मान्यताएं

वह परम ईश्वरीय सत्ता जिसको शास्त्र ने **'ठोस घन शिला'** की संज्ञा दी है, जब उसमें इस भाव की उत्पत्ति हुई, कि क्यों न मैं एक से अनेक होकर खेलूँ और अनेक में अपने एक स्वरूप का दिग्दर्शन करूँ, तो इस महासृष्टि के बीज मंत्र रूप में जो प्रथम शब्द प्रगट हुआ, वह था–**'ऊँ' ओंकार।** इसी सृष्टि के बीज **'ऊँ'** से माया एवं मन की उत्पत्ति हुई। **माया एवं मन के संसर्ग से ब्रह्मा, विष्णु, महेश** और ब्रह्मा की शक्ति **सरस्वती**, विष्णु की **लक्ष्मी** एवं महेश की महाशक्ति **दुर्गा** प्रगट हुई। ब्रह्मा **निर्माण** में, विष्णु **पालन** में और महेश **संहार** में जुट गये। वह एक ईश्वरीय सत्ता, परम–पिता परमात्मा, असंख्य कोटि–कोटि स्वरूपों में शायद स्वयं को देखना चाहते थे। प्रत्येक स्वरूप के साथ विभिन्न प्रकार की सृष्टि, विभिन्न प्रकार का आकाश, विभिन्न धरती, विभिन्न वातावरण, वायु–मंडल, नभ–मंडल और उस वसुन्धरा के विभिन्न तल और सब कुछ विभिन्न। एक अद्‌भुत, अवर्णनीय, अनिर्वचनीय और मानव बुद्धि की विचार शक्ति से कहीं आगे की यह महासृष्टि।

असंख्य सृष्टियों का निर्माण होता चला गया। इस प्रकार यह कीट–पतंगों के रूप में, जीव–जन्तुओं के रूप में, सागर के जन्तु, नभ के जन्तु, पृथ्वी के अन्दर रहने वाले जीव–जन्तु, वायु–चरों और न जाने कितनी प्रकार की विभिन्न रचनाएँ बनती गईं। यही नहीं एक सृष्टि में भी अनेक सृष्टियाँ बनीं। **प्रत्येक जीव कभी एक सृष्टि में नहीं विचरता। उसके मानसिक भावों के अनुसार देश और काल के अनुसार प्रति क्षण उसकी सृष्टियों में परिवर्तन होता रहता है।** एक जीवन में असंख्य सृष्टियाँ, असंख्य सृष्टियों में असंख्य, गणनातीत, कालातीत, देशातीत एव अनिर्वचनीय। प्रभु स्वयं अपनी लीला को देखकर स्वयं आनन्दित होते रहे। आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द जिसका आदि आनन्द, मध्य आनन्द, और अन्त आनन्द। सर्वदा चेतन, जो जन्म–मृत्यु से रहित, अजर–अमर, वास्तव में सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का निर्माण, पालन एव संहार यह उस ईश्वरीय सत्ता की मात्र लीला है। लेकिन जीव–कोटि में आकर जीव स्वयं अपने को, स्वयंभू ईश्वर समझ बैठा और अपनी उस परम सत्ता से बिछुड़ सा गया। लेकिन उस अन्तर्निहित अपने आनन्द और चेतन स्वरूप और सत्य स्वरूप की स्मृति उसके हृदय पटल पर बनी, अंकित

रही। उसकी समस्त दौड़–भाग, जन्म से मृत्यु तक शायद अपने उस बिछुड़े हुए सच्चिदानन्द स्वरूप, उस आत्म–स्वरूप की तलाश में, उसकी खोज में ही थी।

एक समय पर आकर वही जीव, मानव कोटि में आया। मानव कोटि में आते–आते इसमें एक उत्कृष्ट बुद्धि का समावेश हुआ। असंख्य मानवों में, असंख्य विचार धाराएं असंख्य प्रतिभाएं व असंख्य वातावरणों के प्रति विशेष लगाव उत्पन्न हुआ। मानव ने उस बुद्धि का प्रयोग अपने उन कृत्यों के लिये किया, जिन कृत्यों के लिये पशु कोटि, जीव–जन्तु कोटि या पक्षियों की कोटि में भी इस बुद्धि की आवश्यकता नहीं थी। बिना बुद्धि के भी जो कार्य कर रहा था, जब आदत वश मानव कोटि में बुद्धि आने के बाद भी यह वही कार्य करने लगा, **तो नर–पशु कोटि में आया।** जब मानव ने ईश्वरीय सत्ता को मानना शुरू किया, तो उस मान्यता के साथ ही यह मानव, वास्तविक मानव–कोटि में प्रविष्ट हुआ और इसे अपने उस ईश्वरीय स्वरूप के बारे में जानने की इच्छा हुई। उसको जानने के लिए इसने बहुत प्रकार की दौड़–धूप, साधना, चिन्तन, मनन, जप, तप, समाधि, हवन, यज्ञ, दान, पुण्य, तीर्थ–यात्राएँ कभी–कभी महापुरुषों का, संतों का सत्संग, न जाने क्या–क्या करने प्रारम्भ किये? लेकिन मायावश यह स्वयं ही भूल गया, कि जिसके बारे में यह जानना चाहता है इसकी सर्वोत्कृष्ट बुद्धि भी उसके बारे में जानने में अक्षम है। **जिज्ञासु की** परम–कोटि उत्पन्न हुई, जो न केवल ईश्वर के बारे में जानना चाहते थे, बल्कि **ईश्वर** को जानना चाहते थे। तो इन परम जिज्ञासुओं ने कर्म–काण्ड से और अपनी बौद्धिक, यहाँ तक कि बुद्धि से तिलांजली ली। **अपने भीतर ही प्रवेश किया, जहाँ से यह कोटि–कोटि जन्मों पहले चला था। चला तो अपने आनन्द में, आनन्द से खेलने के लिए था, लेकिन अपने स्वरूप से विच्छेदित सा होकर, बिछुड़ सा जाने पर यह पुनः अपने स्वरूप की ओर की दौड़ थी।**

जब विशेष प्रभु कृपा से अपने स्वरूप के बारे में जानने के बाद उस स्वरूप को जानना प्रारम्भ किया इसने, तो एक विशेष आनन्द एवं मस्ती का वातावरण, इसके मन–मस्तिष्क में बनने लगा। अन्ततः यह अपने स्वरूप में ही खोने लगा जिसका नाम दिया–**मोक्ष** और ऐसे मानवों को **मुमुक्षु** कहा गया।

जब ज्योति में ज्योति समा जाती है, जन्म–मृत्यु का चक्कर समाप्त हो जाता है

और काल–चक्र स्वयं में अस्तित्व रहित हो जाता है, तो काल में बंधा हुआ जीव उस कालातीत, अपनी परमसत्ता के सान्निध्य में पहुँच जाता है। किसीने न कभी अपना जन्म देखा है, न मृत्यु। दोनों कल्पनाओं के बीच में इसने अथाह अविरल जीवन को बाँध कर अपना एक जन्म मान लिया, काल की गणना करने लगा। उस महामन से विस्थापित सा हुआ यह एक छोटे से मन पर और उसकी छोटी सी शक्ति, माया पर अपना अधिकार जमाने लगा। इस प्रकार अपने तुच्छ से मन एवं माया की गतियों और उनकी विलक्षणताओं से उलझा हुआ, यह अपने आपको जन्म और मृत्यु का हेतु समझ बैठा। कभी बचपन, कभी युवा, कभी बुढ़ापा, फिर मृत्यु, फिर अगला जन्म और फिर वही चक्कर वही सिलसिला बार–बार। इस प्रकार यह कोटि–कोटि जन्मों में घूमता रहा। यह खोए हुए अपने स्वरूप को कहीं न कहीं पाना चाहता था। असंख्य जन्मों में असंख्य प्रकार की वस्तुओं की उपलब्धियों उनकी प्राप्ति, उनके भोग और अपने शरीर के, विभिन्न प्रकार के कर्मों से गुज़रता रहा। लेकिन एक तलाश थी उसको, वह थी अपने सच्चिदानन्द, उस–ठोस–घन शिला स्वरूप, जिसके बारे में गुरु नानक देव जी महाराज ने कहा है कि–

राम की दुहाई रे बाबा, राम की दुहाई
न कित आए भयो, न कित जाए भयो।

अपने उस परम स्थिर स्वरूप को यह पाना चाहता था, जहाँ पर यह जानता था कि अस्तित्व रहित होकर यह विश्राम को प्राप्त कर लेगा। जिस प्रकार कि मेघों के बरसने से हिमपात होता है, पर्वत शिखरों पर हिमशिलाएँ जमती है, हिमखण्ड बनते हैं। पुनः वहाँ से जल की धाराएं और असंख्य धाराओं से बनती हैं नदियाँ और नदियाँ बनते ही उमड़ती–घुमड़ती, दौड़ती कभी पर्वतों और कभी मैदानों में, अन्ततः दौड़ते–दौड़ते थक कर जब सागर में विलीन हो जाती हैं, तो विलीन होते ही प्रत्येक नदी अपना स्वरूप, अपना नाम अपना रूप खो देती है और सागर अपने महागर्भ में सम्पूर्ण विश्व की समस्त नदियों को समेट लेता है। उसी प्रकार जीव असंख्य जन्म–जन्मातरों में दौड़ता रहा, दौड़ता रहा, मनुष्य कोटि में आकर अपने विभिन्न स्तरों से गुज़रता रहा और अन्ततः अपने उस महाविश्राम स्वरूप में प्रवेश करने बाद उसका सान्निध्य पाने के बाद यह जन्म–मृत्यु नामक काल्पनिक तथ्यों से मुक्त हो

गया और अपनी मोक्ष स्थिति को प्राप्त कर गया।

तो कहने का तात्पर्य यह है कि इस सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में असंख्य जीव–जन्तु और असंख्य जीवों की सम्पूर्ण प्रक्रिया, भाग–दौड़, खोना–पाना, जन्म–मृत्यु, लेना–देना, लाभ–हानि इत्यादि उस सारी दौड़ के पीछे मात्र ज्ञात अथवा अशांत एक ही **उद्देश्य है और वह है अपने 'स्वरूप की खोज'।** तो प्रश्न यह उठता है कि क्या अपने परम सत्य, चेतन व आनन्द स्वरूप को पाने के लिए यह इतनी विशाल, दौड़–धूप आवश्यक है? क्या हम सबको उस विशिष्टतम और अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में मिलने के लिए इतना जोखिम, इतना कष्ट उठाना आवश्यक है? नहीं, ऐसा नहीं है। वास्तविकता यह है कि अपने उस परम स्वरूप से जीव कभी बिछुड़ा ही नहीं। **लेकिन अपने बौद्धिक चातुर्य एवं माया के कारण इसने स्वयं को स्वयं से आच्छादित कर दिया। यह बिछुड़ा सा है।** जब इस सत्य का ज्ञान इसको सत्संग द्वारा, इष्ट कृपा व आत्म कृपा द्वारा हो जाता है और कभी इसको अपने उस खोए हुए अपने उस विशिष्ट स्वरूप की मात्र एक झलक आ जाती है, तो पुनः इसको कभी आवरण नहीं पड़ता। यह विक्षेप, यह मल जो आवरण का कारण बनते हैं, यह विक्षेप–मल भी नहीं हैं। यह विक्षिप्त सा हो गया है, मलिन सा हो गया है। यही वास्तविकता है कोई मार्ग है ही नहीं। यह सदा मंज़िल पर ही रहता है, लेकिन अज्ञानवश न जाने अपने को कितने मार्गों में दौड़ता सा देखता है और **जब इसको सत्य की झलक मिलती है, तो यह अपने आपको स्वयं वहीं का वहीं पाता है।**

कितना विलक्षण चमत्कार है इस ईश्वरीय माया का, कि जो टस से मस नहीं हुआ, जो कहीं आया–गया नहीं, वह इन असंख्य जन्म–जन्मातरों में अपने–आपको घूमता हुआ, दौड़ता हुआ, परेशान सा, हैरान सा, विक्षिप्त सा, त्रसित सा, भयभीत सा, उन्मादित सा और न जाने कितने प्रकार की मानसिक परिस्थितियों में स्वयं मे स्वयं को ही देखता रहता है। लेकिन जब इसकी मानसिक मलिनता और इसका विक्षेप उस ईश्वरीय जाप से, भजन से, आर्त्तनाद से, शुभ कर्मों से, आत्म–त्याग से और सब प्रकार से या किसी भी प्रकार से इसको स्वयं की एक झलक का, लेश–मात्र दिग्दर्शन सा होता है, यह अनावृत हो जाता है। इसका आवरण हट जाता है। इसको

परम विश्राम मिल जाता है और यह स्वयं को वहीं का वहीं पाता है जहाँ से यह कोटि–कोटि जन्म पहले चला था। यह समस्त उस महाकोटि ब्रह्माण्ड नायक ईश्वर की महाशक्ति, माया की लीला है। **माया, मन की शक्ति है,** जहाँ पर तुच्छ जीव–कोटि में आकर उस महा ईश्वरीय मन पर इसने अपना अधिकार जमाना चाहा। जिस प्रकार कि महाकाल सागर को यह जन्म और मृत्यु के एक छोटे से अन्तराल गे बाँध लेता है, इसी प्रकार महामन को भी उसने एक तुच्छ से अपने जीव मन में बाँध लेना चाहा और बाँधा। इस अनर्थ के होते हुए वह ईश्वर की मायावी महाशक्ति उसी के अनुसार इससे इसके मन से बंध सी गई। तो कभी किसी लालसावश, कामनावश, एक कामना के समाप्त होते दूसरी कामनावश, दूसरी के समाप्त होते तीसरी और इस प्रकार कभी न समाप्त होने वाली यह कामनाओं की श्रृंखला, इसको कोटि–कोटि जन्मों में दौड़ाती रहती हैं, दौड़ाती रहती हैं। सबसे सुन्दर एवं अटपटी बात तो यह है, कि स्वयं स्थिर जीव अपने–आपको दौड़ता सा देखता है। जिस प्रकार कि जब किसी मानव को स्वप्न आता है, उस समय वह एक शय्या पर विश्राम से सो रहा होता है, लेकिन स्वप्न सृष्टि में वह कितनी भाग–दौड़ करता है और स्वप्न समाप्त होते ही वह स्वयं विचार द्वारा यह जान जाता है, कि उसकी स्वप्न वाली देह जितनी भाग–दौड़ कर रही थी, वह वास्तव में भाग–दौड़ थी ही नहीं, क्योंकि वह स्वयं एक ही स्थान पर सोया हुआ था और वहीं से उठा था।

यहां मात्र यह विलक्षणता है, कि जब मानव काल महासागर को जन्म और मृत्यु के तथाकथित एव काल्पनिक किनारों में बाँध लेता है, तो ईश्वरीय शक्ति उस महाकाल की विभिन्न विधाओं द्वारा, जन्म–जन्मान्तरों में इसे कई प्रकार की सजाएं देती है। विचार पूर्वक देखें तो सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड अपने में परिपूर्ण है। प्रत्येक जीव, प्रत्येक मानसिक दशा में, जिस मानसिक स्थिति में होता है, उसमें उसका अपना एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड होता है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, एक जीव–कोटि में भी अनेकों ब्रह्माण्डों का रचयिता बन जाता है। विभिन्न प्रकार का रहने का वातावरण और सभी कुछ विभिन्न। इसके स्वाद इसकी इच्छाएं, इसकी धरा–वसुन्धरा, इसका जल–थल, वायु इसका तेज आकाश भिन्न–भिन्न होता है, भिन्न–भिन्न स्वरूपों में होता है। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड की सृष्टि भिन्न–भिन्न जीव कोटियों में भिन्न–भिन्न होती है। तो

शायद उस महातेज, उस सच्चिदानन्द स्वरूप, परम–पिता परमात्मा के स्वरूप से यह ईश्वरीय सत्ता, जीवात्मा एव असंख्य जीवों में उतर कर जो एक मात्र लीला के लिए, अपने आनन्द में, आनन्द से और आनन्द तक चलना चाहती थी और पुनः अपने स्वरूप में विलीन होना चाहती थी। तो जीव–कोटि में आकर माया से आच्छादित होता हुआ, बुद्धि का दुरुपयोग करता हुआ, यह अपनी परम–सत्ता से बिछुड़ सा जाता है और इसकी समस्त भाग–दौड़, पूरे ब्रह्माण्ड में असंख्य जीव–जन्तुओं के रूप में, जन्म–मृत्यु, पुनः जन्म, फिर मृत्यु यह सिलसिला शायद इसके अपने खोए से स्वरूप की तलाश में है और जिस क्षण इसको अपना दिग्दर्शन हो जायेगा, इसकी समस्त प्रक्रियाएं, समस्त क्रिया–कलाप उसी समय समाप्त हो जाएंगे। जैसे–जैसे यह उच्च स्तर पर पहुँचता रहता है, मुमुक्षु स्तर तक आ जाता है तो कभी–कभी लीला स्वरूप होकर आनन्दमय स्थिति में अपने अन्य निम्न स्वरूपों पर एक नज़र दौड़ाता है, तो अपने–आपको विभिन्न स्थितियों में पाकर इसको विशेष आनन्द मिलता है। यह तभी सम्भव है, जब इसको अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। एक तो अपने किसी स्वरूप में जाने के बाद तथा–कथित जन्म एवं मृत्यु के किनारों में बंधने के बाद जब यह उस महाकाल सागर को छोटे से जीवन में एक तुच्छ काल की स्थिति में, गणना में ले आता है और उस गणना में यह अन्य प्रकार के कष्टों में लिप्त हो जाता है। असंख्य प्रकार के कष्टों, रोगों, दोषों, त्रास, विभिन्न प्रकार के भय और जीवन के विभिन्न पहलुओं को समय एवं माया की विभिन्न विधाओं से जोड़कर यह न जाने किन–किन कष्टों को सहता है और उनसे ऊबकर यह पुनः कुछ और, कुछ और की प्राप्ति के लिए दौड़ता रहता है। **अन्ततः इसकी दौड़ मात्र इसके स्वरूप में विलीन होकर या उसके सानिध्य मे पहुँच कर ही समाप्त होती है और इसकी थकावट उतरती है, जिस स्वरूप से यह चला था।**

तो प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर की इतनी विशाल शक्ति, माया और ईश्वरीय मन द्वारा इन असंख्य महासृष्टियों व करोड़ों बह्माण्डों का निर्माण, पालन एवं संहार यदि आनन्दमय था और इसी उद्देश्य से था, तो असंख्य प्रकार के कष्ट क्यों? यह एक अनिर्वचनीय पद है। मात्र, वह उत्कृष्ट मानव–बुद्धि जो ईश्वर ने इसको

समर्पित की, उस बुद्धि का दुरुपयोग करते हुए यह जब उस तुच्छ जीव–कोटि में अपने आपको स्वयंभू ब्रह्मा, विष्णु और महेश समझने लगा, तो शायद उस **सूक्ष्म अहम् का कारण था कि यह इस आनन्दमय जगत में आनन्द से विचरने की बजाय विभिन्न प्रकार के दुखों, रोगों और दोषों से ग्रसित हो गया।** तो इस समस्त प्रकरण और समस्त प्रवचन का जो तथ्य है, वह यह कि सच्चिदानन्द ठोस–घन शिला ईश्वर, वह परम पिता परमात्मा एक से अनेक होने के लिये दृढ़ संकल्प होकर, अपनी मन एवं माया शक्तियों से कार्य लेता हुआ, इस महाब्रह्माण्ड में खेलना चाहता था, **लेकिन जीव–कोटि में आकर यह बन्धन सा इसके कष्टों का हेतु बना। इसके दुःखों का कारण बना। यह समस्त दौड़–धूप, मात्र दौड़–धूप सी ही थी। यह कहीं भी नहीं गया, कहीं से भी नहीं आया। न कोई मार्ग था। मात्र मंज़िल ही मंज़िल थी।** तो इस सम्पूर्ण प्रकरण का जिसका वर्णन इस प्रवचन में किया गया है, यह अपने में एक बड़ा अद्भुत विषय है। एक ऐसा विषय जिस पर मानव बुद्धि का कोई नियंत्रण नहीं है। मानव बुद्धि इसकी विवेचना और उल्लेख नहीं कर सकती। यह प्रवचन एक विचार है। सब कुछ आनन्दमय हो रहा है, लेकिन अज्ञान एवं भूलवश हम समझ बैठते हैं, कि हम आनन्द के लिये दौड़ रहें हैं।

मानव ने जब उस महाकाल सागर को अस्तित्व रहित जन्म और मृत्यु नामक दो छोरों में बाँधने का अज्ञानवश प्रयत्न किया, तो शायद इस भारी भूल के कारण, वही महाकाल सागर और वही ईश्वरीय मन जिसकी समस्त धाराएं और जिसकी समस्त प्रक्रियाएं मात्र आनन्दमय होती हैं, वही इसके लिए कष्टमय हो गईं।

बहुत विचारणीय विषय है। इस पर यदि हम नित्याध्यासन, चिंतन, मनन एवः विचार करें अति श्रद्धा से, अपने इष्ट में परम श्रद्धा रखते हुए, गुरु में श्रद्धा रखते हुए, स्वयं में श्रद्धा रखते हुए, तो शायद कभी न कभी इस परम सत्य के गहन रहस्य को अन्तर्निहित अवश्य कर पाएंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

।। जय जय श्री राम।।

मन एवं माया

अभी आपके सम्मुख विशेष गहन और विचारणीय विषय प्रस्तुत कर रहा हूँ यह है **मन एवं माया** के बारे में। यह मन और माया ईश्वर की दो परम विशिष्ट शक्तियाँ हैं, जिनके समागम से वह ईश्वरीय सत्ता स्वयं ही में ब्रह्मा, विष्णु एव महेश का रूप धारण करती हैं और क्रमशः इस कोटि–कोटि ब्राह्मण्डों का निर्माण, पालन एवं संहार करती है। विषय अति जटिल है इसमें आपकी विशेष एकाग्रता चाहूँगा। **मन अपने में निराकार शक्ति है। इसमें करोड़ों ब्रह्माण्डों का एक सूक्ष्म स्वरूप अंकित रहता है। जबकि माया शक्ति द्वारा वही नक्शा उभर कर हमारे सम्मुख आ जाता है।** जितनी भी सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में नाम और रूप में जो–जो भी गणनाएं हैं, आकृतियाँ है और जो–जो कृत्य हैं, वे समस्त मायामय है। सभी भागते–दौड़ते, उछलते–कूदते, आते–जाते, उठते–बैठते नज़र आते हैं और उनमें एक हमारी देह भी होती है। बहुत गहन रहस्य है। **ईश्वरीय मन की शक्ति का नाम है, माया।** मन में दृश्य अंकित रहते हैं, सृष्टि अंकित रहती है, जबकि माया में उसका समयानुसार, देशानुसार उचिततम् प्रगटीकरण होता है, जो हमारे सम्मुख कुछ न कुछ बनकर, बिगड़कर, मिलकर बिछुड़कर सामने आ जाता है। वास्तव में उस एक ईश्वरीय सत्ता का एक ही सशक्त मन है। ईश्वर जितने स्वयं सशक्त हैं, उनका मन भी उतना ही सशक्त है। माया शक्ति क्योंकि, ईश्वर मन की शक्ति है, तो यह भी अपने में बहुत सशक्त है। मन, जैसा कि मैं अभी कह चुका हूँ निराकार है और माया साकार है, तो इस विषय को अन्तर्निहित करते हुए हम इसी विचार मे आगे बढ़ेगे।

जब मानव जीव–कोटि में आता है, तो ईश्वरीय मन पर वह अपना अधिकार कर लेता है कि, **'यह मेरा मन है'** मानव शिशु उत्पन्न होता है और वह जब होश संभाल लेता है, कुछ विद्या अर्जन कर लेता है, तो उस समय वह ऐसा समझने लगता है, कि मानो पूरे ब्रह्माण्ड का वह स्वयं ही निर्माणकर्त्ता, पालनकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता हो। भला सोचिए क्या हमारे पैदा होने से पहले सृष्टि नहीं चल रही थी, अवश्य चल रही थी। तनिक विचारिए, कि क्या हमारी मृत्यु के बाद सृष्टि समाप्त हो जायेगी? तो उत्तर होगा–नहीं ! अनादि काल से मन एवं माया के संयोग से यह

सृष्टि चल रही है और इस प्रकार यह चलती रहेगी। हमारे अस्तित्व का इसमें कोई महात्म नहीं है। जब इस सृष्टि का सम्पूर्ण निर्माण ईश्वर कृपा से, ईश्वर शक्ति और ईश्वर इच्छा से होता है, तो इस महाब्रह्माण्ड के असंख्य मानव और उन असंख्य मानवों को अपने–अपने स्तर पर विशेष समस्याएं, विक्षेप और किसी न किसी प्रकार के कष्ट क्यों ग्रसते हैं? बहुत विचारणीय विषय है। जब जीव–कोटि में मानव इस मन पर अपना अधिकार जमा लेता है कि 'यह मन मेरा है' तो वह जन्म और मृत्यु के दो काल्पनिक किनारों के बीच इस महाकाल रूपी समुद्र को, एक छोटे से तालाब में बंधा हुआ समझ लेता है। स्वयं ही स्वयंभू ब्रह्मा, विष्णु और महेश बन जाता है और वहीं पर इसके कष्टों का पदार्पण होता है। तो उस **महामन को अपने मन की संज्ञा देने से मन की शक्तियाँ भी सीमित हो गई। मन असीम सत्ता से अति सीमित होकर किसी विशेष व्यक्ति की धरोहर बन गया।** जबकि वास्तविकता यह है कि ईश्वरीय मन में अंकित असंख्य रचनाएं इस सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में समय–समय पर माया के संयोग से विभिन्न रूपों में व नामों में प्रकट होती रहतीं है। प्रत्येक मानव का जो एक विशेष जगत होता है, विशेष प्रतिभाएं होती है, आर्थिक सामाजिक, परिवारिक स्थितियों और अन्य जो कुछ भी होता है, यह सब मायामय है। तो जितना हम ईश्वरीय मन को संकुचित कर लेते हैं, ठीक उसी के अनुसार माया की शक्तियों का प्रस्फुटन होता है। किसी मानव का मन और माया पर अधिकार नहीं हो सकता और जो अधिकार करने का असफल प्रयास करता है, वह बहुत भयानक कष्टों का अधिकारी हो जाता है। **मन जो कि निराकार शक्ति है, जिसको 'शिव' कह सकते हैं और माया जिसका अपना एक नाम है, एक रूप है, जिसको हम शक्ति कह सकते हैं। तो शिव और शक्ति का आपस में एक दूसरे के समानान्तर और एक दूसरे के प्रतिफल के रूप में प्रगटीकरण हुआ है।** जो प्रत्येक जीव का उसके परिवार के समाज के व जीवन के प्रत्येक पहलू के रूप में समय–समय पर प्रस्तुत होता रहता है, मिलता रहता है। जिस प्रकार कि हम कोई स्वप्न देख रहे हों और उस स्वप्न के आगे कौन सा स्वप्न आना है या अगली रात्रि में हमें कौन सा स्वप्न आना है या नहीं आना है यह किसी भी मानव के हाथ में नहीं है। यह समस्त प्रकरण ईश्वरीय सत्ता के हाथ में है।

एक सोने वाला व्यक्ति जिसको स्वप्न का दृष्टा कहा है, और एक स्वप्न वाला व्यक्ति है, जो उस स्वप्न में वही नाम और रूप धारण करके उस स्वप्न का अंग बन चुका है। मान लीजिए राम स्वरूप नामक व्यक्ति सो रहा है और उसको एक स्वप्न आता है और उस स्वप्न में वह अपने आपको विभिन्न परिस्थितियों में पाता है। तो यहाँ पर दो राम स्वरूप हुए। एक स्वप्न को देखने वाला और एक स्वप्न वाला। **यदि स्वप्न वाले राम स्वरूप को यह ज्ञान हो जाये, कि सोने वाला राम स्वरूप भी मैं ही हूँ और सम्पूर्ण स्वप्न जगत की समस्त सृष्टि मेरे सोए हुए राम स्वरूप के मानस से ही प्रकट हुई है, तो सारा स्वप्न आनन्दमय हो जाता है।** वास्तविक जीवन में मानव को यह ज्ञान हो जाये, कि इस समय इस देश काल में वह जिस परिस्थिति में विचर रहा है, जिन असंख्य व्यक्तियों को देख रहा है, जिनके बारे में वह सोच रहा है और जिस सम्पूर्ण सृष्टि का वह दिग्दर्शन कर रहा है, जिसमें उसकी अपनी देह भी आ जाती है वह इस समय का स्वप्न है, जो उसके मन पर अंकित था और उसका बाह्य प्रगटीकरण है, तो जीवन मात्र लीला बन जाती है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि यह दृश्य जो हम देख रहे हैं, इस दृश्य के निर्माण–कर्ता हम नहीं हैं। वह एक परम ईश्वरीय सत्ता है, ईश्वरीय शक्ति है हमारा इष्ट है, जो समस्त कोटि–कोटि महाब्रह्मण्डों का निर्माणकर्त्ता है और वास्तव में वही निर्माणकर्ता इसका संचालक भी है और वही इसका संहारकर्त्ता भी है। मानव–कोटि में आकर जब मायावश हम इस सत्य को भूल जाते हैं, तो उस विस्तृत अति विशालमय ईश्वरीय मन शक्ति को एक तुच्छ दायरे में अपना मन समझ कर कि, 'यह मेरा मन है' और मैं स्वयं में इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक एवं इच्छाफल हूं। समस्त सृष्टि का रचयिता मैं हूँ और मैं ही इसका पालनकर्त्ता हूँ। मेरे बिना यह सृष्टि चल नहीं सकती इत्यादि–इत्यादि।' अहम्‌वश, अज्ञानवश, मायावश जब इन धारणाओं से हम ग्रसित हो जाते हैं, तो हमारी मायिक शक्तियाँ भी इस तुच्छ मन के अनुसार ही तुच्छ हो जाती हैं। जितना नाम–रूप का जगत है, उस समय उस विशेष देश काल में, वे हमारी उस समय की मानसिक स्थिति के समान ही अनुपाती बाह्य जगत में प्रगट होता है। लेकिन सत्संग द्वारा, परम इष्ट कृपा द्वारा, सद्‌गुरु की कृपा द्वारा यह

रहस्य मालूम चल जाता है, कि यह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड, उस ईश्वर, जो कारण है समस्त महाब्रह्माण्ड के निर्माण, पालन एवं संहार का, यह उसकी मात्र लीला है। इस सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का निर्माण उसकी इच्छा से ही हुआ है और वह ही वास्तव में जीव–कोटि में आकर स्वयं इसका रसास्वादन कर रहा है, आनन्द ले रहा है और लीला कर रहा है।

इस रहस्य के दिग्दर्शन होते ही मानव अति संतुष्ट एवं पूर्णकाम हो जाता है। तनाव रहित हो जाता है। वह मात्र दृष्टा की नाईं उस महाईश्वरीय सत्ता की विभिन्न लीलाओं का आनन्द लेता है। कहीं भी भागीदार नहीं होता। कहीं भी जकड़ा नहीं जाता। समस्त लीलाओं को वह आनन्दपूर्वक करता है और अन्ततः आनन्द में ही वह इस लीला को समाप्त भी करता है, क्योंकि वह जान जाता है, कि ये समस्त सांसारिक प्रक्रियाएं, ये तमाम सांसारिक सम्बन्ध, ये समस्त कर्म व कर्त्तव्य, मात्र उसकी सोच की ही मान्यता है। जैसे ही हम उस कारण स्वरूप से विलग हो जाते हैं, तो हम इस महान महामन को तुच्छ सा मन समझकर इसको अपने अधिकार में लेना चाहते हैं। तो कभी हम उसको बस में करने लगते हैं, कभी हम उसके बस में हो जाते हैं। इस प्रकार जन्म–जन्मानतरों तक हम उलझते जाते हैं और उसके मन के प्रगटीकरण की, यह माया शक्ति उसके पीछे पड़ जाती है। इस प्रकार हमारी बहुत सी साधनाएं, बहुत सारे आध्यात्मिक कृत्य, जप–तप एक सही निर्देशन व दिशा न होने के कारण व्यर्थ हो जाते हैं और मानव असंख्य कष्टों, भयों व विक्षेपों का अधिकारी सा हो जाता है। कभी–कभी उस मन सत्ता पर मानव अपना अधिकार जमा कर जब उसके अनुसार प्राप्त मायिक शक्तियों से संतुष्ट नहीं होता, तो अनेक प्रकार की आध्यात्मिक प्रक्रियाएं यज्ञ–हवन, जप–तप इत्यादि करता है। उससे इसको अन्य लोगों से अधिक कुछ भौतिक उपलब्धियाँ अन्य लोगों से अधिक मिल जातीं हैं लेकिन फिर भी इसकी एक क्षमता ही रहती है। उदाहरण के लिए एक गिलास में ठंडा जल भरा हो, तो उसमें नमक अथवा चीनी की एक विशेष मात्रा ही घोलने में हम सफल होते हैं और अधिक नमक डालने से वह उसमें घुलना बंद हो जायेगा, तली पर एकत्रित होने लग जायेगा। परन्तु यदि हम उस जल को गरम कर लें, तो उस गिलास के जल में अधिक नमक घोलने की क्षमता आ जाती है। और अधिक

गरम करें, उबाल बिन्दु तक गर्म करें, तो हम उसमें और–और, एक सीमा तक ही नमक घोल सकते हैं, क्योंकि उसके पश्चात् उसकी भी एक सीमा आ जाती है और थोड़ा भी अधिक नमक अथवा चीनी डालने से वह उसकी तली पर बैठ जायेगी, घुलेगी नहीं। ठीक इसी प्रकार मानव–कोटि में आकर जब जीव अपने आपको उस ईश्वर से और ईश्वरीय मन से अलग मानकर उसी मन को एक गिलास की नाईं तुच्छ सी शक्ति में परिवर्तित कर देता है और उसके अनुसार उत्पन्न हुई मायिक शक्तियों से, उन प्राप्तियों से जब यह संतुष्ट नहीं होता तो अनेक प्रकार के जप, तप, यज्ञ, हवन, दान, पुष्य आदि प्रकरणों में, क्रियाओं में व्यस्त हो जाता है, उनको करता है। तो इसको अन्य लोगों से अधिक प्राप्तियाँ अवश्य हो जातीं हैं, लेकिन वह भी सीमित होती हैं।

उदाहरण के लिए रावण ने माता सीता का अपहरण किया, तो माता सीता भगवान श्री राम की शक्ति है। भगवान श्रीराम, मायापति हैं, साक्षात् विष्णु हैं। तो उस विष्णु मन की पत्नी, उनकी शक्ति भी कितनी सशक्त रही होगी और रावण भी अपने में सशक्त था, महाप्रकाण्ड, विद्वान, बाहुबल से, शास्त्र बल से सुसज्जित था। धन–बल, जन–बल तत्र और मंत्र शक्तियों से परिपूरित था, लेकिन वह सब सीमित थीं। उसने अपनी शक्तियों को यज्ञों के द्वारा और विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा अर्जित करने का और बढ़ाने का प्रयल किया, लेकिन वे शक्तियॉ माता सीता जैसी परम शक्ति को, मायिक शक्ति को सम्भालने के योग्य नहीं थीं। तो उसको सभी देवी–देवताओं ने यही सुझाव दिया कि, 'तुम भगवान श्री राम को सीता माता लौटा दो।' जिसको वह सुनना नहीं चाहता था। लेकिन अपनी मानसिक शक्ति सीता जैसी परम मायिक शक्ति को संभालने के लिए बहुत तुच्छ थी। तो अन्ततः रावण का विनाश हो गया और विभीषण सरीखा व्यक्ति जो कि रावण के सामने कुछ भी शक्ति नहीं रखता था, वह जब भगवान राम की शरण में चला गया, तो वह लंकापति घोषित कर दिया गया। यही नहीं प्रभु श्री राम के प्रेम हेतु लंकापति बना और आनन्दपूर्वक अखंड राज्य करने का अधिकारी बना। अर्थात् जब मानव, जीव–कोटि में आकर अपने आपको उसी सीमा में बाँध कर आध्यात्मिक प्रक्रियाएं– यज्ञ, हवन, मंत्र, तत्र आदि का संहारा लेता है, तो जैसा कि मैं कह चुका हूँ, कि वह अन्य मानवों

से अधिक शक्तियों को अर्जन करने में सफल हो जाता है। लेकिन एक तो उसको परम संतुष्टि नहीं मिलती और अन्ततः वह सीमित का सीमित ही रहता है। मृत्यु के समय उसको समस्त भौतिक प्राप्तियाँ छोड़ कर ही जानी पड़ती है।

मान लीजिए एक गिलास के पानी को जिसमें हम और नमक घोलने के लिए अधिक अधिक गर्म करते हैं, लेकिन फिर भी उसमें नमक की मात्रा सीमित ही रहती है। यदि हम उसी जल से भरे गिलास को समुद्र में डाल दें, तो समुद्र में डालने के बाद उसमें असंख्य गुना नमक घोल सकते हैं। उसकी क्षमता असंख्य गुणा बढ़ जाती है यद्यपि वह गिलास का गिलास ही रहता है। इसलिए जब मानव मन अपनी तुच्छता का त्याग कर ईश्वरीय मन में समर्पित हो जाता है, उसके सन्मुख नत–मस्तक हो जाता है, तो उसकी मायिक शक्तियों असंख्य गुणा बढ़ जातीं है। मायिक शक्तियों पर उतना ही अधिकार हो जाता है, जितना ईश्वरीय मन का होता है। सम्पूर्ण कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों की सम्पूर्ण कोटि–कोटि सम्पदा, सम्पूर्ण निधियों, सम्पूर्ण ऐश्वर्य एव भोग के जितने भी पदार्थ हैं, जितनी भी मायिक रचनाएं हैं, वे ऐसे महापुरुषों के चरणों में आ जाती है। वह उन समस्त भोगों का अधिकारी हो जाता है, भले ही वह उनका सेवन करे या न करे।

यह एक नितांत सत्य है। विचारणीय विषय है। मात्र, अपना दृष्टिकोण सत्य करने से हमारे जीवन में तुरन्त एक विशेष विलक्षणता पदार्पित हो जाती है। जीवन की धराएँ बदल जातीं हैं। हमारी मानसिक स्थितियाँ दिव्य हो जाती हैं। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड हमारे हृदय में व्याप्त हो जाता है और हम स्वयं इस महाब्रह्माण्ड में विचरने लगते हैं।

।। जय जय श्री राम।।

अबोधता

आज की इस संध्या वेला में अपने इष्ट प्रभु श्री हनुमान जी की दिव्य प्रेरणा से आपके सम्मुख एक सुन्दरतम् विषय रखने जा रहा हूँ, जिसका नाम है–**अबोधता**। अबोधता का वर्णन मैं अपने कुछ पिछले प्रवचनों में थोड़ा बहुत कर चुका हूँ, लेकिन इस अबोधता का अस्तित्व वया है? अर्थ क्या है? उस सच्चिदानन्द की समस्त महासृष्टि में इस अबोधता की गणना क्या है? इसके बारे में जो दिव्य अनुभूतियाँ हुईं है उसके कुछ अंशों से मैं आपको आवगत् कराऊंगा।

समस्त बह्माण्ड में जितने भी असंख्य जीव–जन्तु हैं, अबोध हैं। बहुत थोड़ी सी बुद्धि को ग्रहण किये हुए ये अपना समस्त जीवन आवश्यक पदार्थों को जुटाने में व्यतीत करते हैं। संतान उत्पत्ति और बाहर के खतरों से अपना बचाव स्वयं करते हैं। विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों मे अपने को ढाल कर अपना अनुकूलन, पालन–पोषण, अपने बच्चों की देखभाल आदि यह समस्त कार्य अबोध जगत करता है। ईश्वर ने इनको विलक्षण प्रतिभाएं दी हैं जो स्वतः प्रकृति द्वारा निर्देशित होती हैं और उनका जीवन निर्वाह होता रहता है।

इसी प्रकार यदि हम मानव शिशु का गहनना से विचार करें, तो प्रथम कुछ महीनों तक तो वह अति अबोध रहता है। नवजात शिशु को तो अपने माता–पिता का भी ज्ञान नहीं होता। धीरे–धीरे शिशु का मस्तिष्क विकसित होता है और इसका अपनी माता–पिता और अति समीप रहने वाले सगे–सम्बन्धियों के भले ही सम्बन्धों का ज्ञान न हो उनके अपनत्व का ज्ञान हो जाता है। शिशु का पालन–पोषण होता रहता है। विभिन्न कष्टों मे उसके माता–पिता एवं सम्बन्धी उसको चिकित्सकों के पास ले जाते हैं औषधि दिलाते हैं अपने हाथों से उसको औषधि देते हैं। उसके लिए प्रार्थना करते हैं। शिशु के नाम से विभिन्न प्रकार के दान–पुण्य किए जाते हैं। विभिन्न कष्टों में विभिन्न ग्रहों, नक्षत्रों को शान्त करने के लिये पूजन किये जाते हैं। मां अपनी सामर्थ्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के वस्त्र सिलती है, सिलवाती है और अपने शिशु को विभिन्न परिधानों में देख कर स्वयं प्रसन्न होती है। इस प्रकार 'स्वान्तः सुखाय' अपने स्वयं के सुख के लिए, प्रसन्नता के लिए उसको विभिन्न प्रकार की वर्दियों से अलंकारों से सुशोभित करती है। लोरी देकर सुलाती है, विभिन्न प्रकार की कहानियाँ

सुनाती है। शिशु की जिद्दें पूरी करती है। उस मानव शिशु को अबोधता की स्थिति में कितना अधिकार होता है! किसी अन्य व्यक्ति के घर जाते समय माँ अपने बालक को समझाती है, कि हम किसी दूसरे के घर जा रहें है, वहाँ जाकर कुछ खाने–पीने इत्यादि की चीज मत माँगना। लेकिन बालक चूंकि अबोध है, मेरे और तेरे का उसको बोध नहीं है, वह माँ की बातों पर ध्यान न देते हुए अपनी पसन्द की किसी चीज़ पर उँगली धर ही देता है। यद्यपि उसे अपनी माँ की डाँट भी खानी पड़े।

उस शिशु की मानसिकता पर ध्यान दीजिए कि बात–बात पर किसी वस्तु को पाने के लिए जब शिशु लालायित होता है, अनुरोध करता है तो माँ उसकी डांटती है कि 'अमुक वस्तु हमारी नहीं है।' तो कितना झुंझलाता होगा वह। यह हमारे–तुम्हारे शब्द क्या है? सारी वस्तुओं पर मेरा अधिकार क्यों नहीं है? प्रत्येक वस्तु का मैं आनन्द क्यों नहीं ले सकता? खैर, इस प्रकार तथाकथित मानव बुद्धि विकसित होती रहती है। शिशु बड़ा होता रहता है। विद्या अर्जन शुरू कर देता है। मस्तिष्क का विकास होने लगता है, तथाकथित विकास! उसका अधिकार क्षेत्र क्रमशः कम से कम होने लगता है। सर्व प्रथम मेरे और तेरे का भाव जागृत हो जाता है सम्बन्धों को लेकर वस्तुओं को लेकर, अधिकारों को लेकर, ईश्वरीय सत्ता को लेकर, धर्मों को लेकर, कर्मों को लेकर! प्रत्येक वस्तु को लेकर बँटवारा बढ़ जाता है। न जाने इसको आप बुद्धि का विकास कहेंगे या ह्रास, यह एक विचारणीय विषय है।

कैसा विकास है यह? जो पृथ्वी की सत्ता को, परिवारों को, अधिकारों को व मानसिक मान्यताओं को तुच्छ कर दे। बचपन में बालक जब अबोध होता है, उसका जन्म–दिवस मनाया जाता है, खुशियाँ मनायी जाती है, मिठाइयाँ बाँटी जाती है, दीपक जलते हैं, दान–पुण्य इत्यादि कर्म होते हैं। बालक बहुत प्रसन्न होता है, उसको जन्म दिन का महात्म्य नहीं होता। काल की गणनाओं से वह परे होता है। उसकी अबोधता पूर्वक एक विशेष मानसिक स्थिति होती है, जो कालातीत होती है, सम्बन्धों से अतीत होती है। उसको सांसारिक वस्तुओं का, धन का, पद का, सम्पदा का, भूमि का, जिनके लिए मार–काट होती है, युद्ध होते हैं, मुकद्दमे चलते हैं, भाई–भाई का दुश्मन हो जाता है, पत्नी, पति से विमुख हो जाती है इत्यादि। इन सब बातों का उसे कोई ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वह अबोध होता है। उस अबोध बालक

को अपने मान–सम्मान का भी कोई ज्ञान नहीं होता, परमहंस साधु की तरह उसको कोई डॉट देता है, तो क्षण भर के लिए उसका रुदन शुरू हो जाता है और अगले ही क्षण जब उस रोते हुए बालक को पुचकार दिया जाता है, तो वह हँसने लगता है, मानो उसका ज्ञात ही न हो कि अपमान क्या होता है। मान–सम्मान, अपमान उस बालक के शब्दकोश में ही नहीं होते। उसके हृदय में उसकी बुद्धि में नहीं होते, क्योंकि वह अबोध होता है। उसकी जीवनचर्या का सारा प्रबन्ध, भोजन का, औषधि क्या वस्त्रों का और रहन–सहन का न जाने कितने लोग करते हैं! कहीं वह खेलने जाता है, तो भी उसके पीछे कोई न कोई होता है, एक राज–रक्षक की तरह। शायद इसलिए ही अबोध बालक को कुछ गद्यकारों ने, कुछ पद्यकारों ने **शहशाह** कहा है। उसके साथ रक्षक या रक्षिकायें चलती हैं। उसको नहलाया जाता है, स्वच्छ किया जाता है, उसको सुलाया जाता है, खिलाया जाता है और सब प्रकार की सुविधाएं दीं जाती हैं, चूँकि वह अबोध होता है।

कुछ सुविधाएं मानव–कोटि में माता–पिता या सम्बन्धी और कुछ सुविधाएं उसको स्वयं प्रकृति देती है। अबोध बालक का कोई कर्त्तव्य अथवा कर्म नहीं होता। कोई समय नहीं होता और न समय की गणनाएं होती है। उसको समय व्यर्थ अथवा समय सदुपयोग आदि संज्ञाओं का कोई ज्ञान नहीं होता। उसको तो मात्र खेलना है, माँ की गोद में सोना है। बस, समय का इतना ही अस्तित्व उसके लिए होता है। उसका कोई मित्र अथवा शत्रु नहीं होता। धन की, कामिनी की व कंचन की कोई हैसियत उसके सामने नहीं होती, क्योंकि वह अबोध होता है। उसके द्वारा किया गया कोई कृत्य उसकी दृष्टि मे न अपराध होता है, न सुकर्म होता है। अबोध बालक अज्ञानवश किसी के सिर पर पत्थर भी मार दे, तो उसको उसका दोषी नहीं माना जाता। तुलसीदास जी ने लिखा है–

समर्थ को नहीं दोष गोसांई

क्या अबोधता समर्थ है या समर्थ अबोधता है? इस पर अवश्य विचार होना चाहिए। और यदि नहीं है, तो अबोध को अपराधी क्यों नहीं माना जाता? जब बुद्धि का विकास होता है, तो बालक के नाम व रूप की परिकल्पना दृढ़ हो जाती है। सर्वप्रथम उसको काल के बन्धन में बाँध दिया जाता है! महाकाल सागर को जीवन

और मृत्यु के दो छोरों में बाँध दिया जाता है, क्योंकि उसकी बुद्धि का विकास हो जाता है। धनवान और निर्धन की पहचान होने लगती है उसको। अपने और पराये हो जाते हैं उसके। समय बंध जाता है उसका। संसार बंध जाता है। उसके अधिकार बंध जाते हैं। उसके शत्रु और मित्र उत्पन्न हो जाते हैं, चूंकि वह बुद्धिमान हो जाता है। धर्मों और कर्मों में भिन्नता आ जाती है, बन्धन आ जाता है। नवजात शिशु का कोई धर्म नहीं होता, जिस प्रकार कि ईश्वर के पाँच महाभूतों का कोई धर्म नहीं है। पृथ्वी, जल, वायु, तेज एवं आकाश धर्मातीत, कर्मातीत, मायातीत, देशातीत कालातीत होते हैं। इसी प्रकार अबोध शिशु भी धर्मातीत, देशातीत, कालातीत होता है। शायद, इसीलिए भले ही माता–पिता किसी भी देश के वासी हों, जिस देश में शिशु का जन्म होता है, वह देश उसको वहीं की नागरिकता दे देता है। शायद यह अन्तर्राष्ट्रीय नियम इसी आधार पर बनाया गया होगा, कि नवजात शिशु देशातीत, धर्मातीत होता है। मानव मन और मस्तिष्क भी इस तथ्य को नकार नहीं सकते और नकारने का साहस भी नहीं रखते।

अबोध बालक सबको प्रिय लगता है। किसी भी अबोध सुन्दर बालक को खेलते हुए देखकर कोई भी व्यक्ति अपने जीवन की चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। तो यह बुद्धि का विकास जैसे–जैसे होता है, व्यक्ति कर्म–बंधन, परिवार–बंधन, जाति–बंधन, धार्मिक बंधन, ज्ञान–बंधन, अज्ञान–बंधन, देश–बंधन, काल–बंधन, जाने किन–किन बन्धनों में बंध जाता है। मैं कभी–कभी इस विषय पर विचार करने पर मज़बूर हो जाता हूँ, कि जिसको हम बोधता कहते हैं, बुद्धि का विकास कहते हैं क्या वास्तव में विकास शब्द उपयुक्त है? कैसा विकास है यह बुद्धि का, कि जो मानव शिशु को इतना संकीर्ण कर देती है, कि इसके समस्त अधिकारों को छीन सा लेती है। कितना विचारणीय एवं अद्‌भुत चमत्कारिक आयोजन है, कि एक अबोध शिशु जिन अधिकारों का और जिस स्वतंत्रता का आनन्द ले रहा था, जिन व्यवस्थाओं का अधिकार पूर्वक भोग कर रहा था, जैसे–जैसे बुद्धि का विकास होता है, तो उन्हीं सुविधाओं, खान–पान और रहन–सहन के प्रबन्ध के लिए उसको तथाकथित प्रेरणाएं दी जाती हैं, कि उसको अपना लक्ष्य बनाना है। अपना जीवन–यापन करना है।

बड़ा विचारणीय विषय है कि **अबोधता में जो वस्तुएँ स्वयं अधिकार**

पूर्वक प्राप्त थीं, **बुद्धि के विकास के साथ उनको पुनः प्राप्त करने के लिए तैयारियाँ की जाती हैं।** ज़रा विचारिए। क्या बुद्धि का यही योग दान है मानव जीवन के लिए ? क्या मानव को उस परम ईश्वरीय सत्ता ने बुद्धि नामक शक्ति इसलिए दी होगी, कि वह चिंताओं से ग्रसित हो जाए? निर्बुद्धि और अबोध को जो आनन्दपूर्वक जीवन–यापन का अधिकार मिला हुआ था, क्या बुद्धि उसको छीनने के लिए है? जब यह प्रश्न हृदयंगम होता है कि, " हे प्रभु। क्या मेरी बुद्धि का यही अर्थ है, कि शिशु काल में बिना बुद्धि के जिन अधिकारों का और वस्तुओं का मैं उपयोग करता था, तो बुद्धि विकसित होने के बाद मैं उन वस्तुओं का अर्जन करूँ?"

इस प्रश्न के आते ही मानव बुद्धि के साथ विवेक की जागृति हो जाती है। मानव के हृदय में, ऐसा नहीं है! ऐसा नहीं है! की एक गूँज सी उत्पन्न हो जाती है। बुद्धि के साथ जब विवेक उत्पन्न हो जाता है, तो मानव अपना अति उत्कृष्ट जीवन कभी भी भौतिक पदार्थों के अर्जन, प्राप्ति अथवा भोग में व्यर्थ नहीं करता। न ही इसकी आवश्यकता होती है, क्योंकि परमात्मा ने इस महाब्रह्माण्ड के निर्माण, पालन और संहार इत्यादि समस्त प्रक्रियाओं का संचालन स्वयं अपने हाथ में रखा है। बड़े–बडे विशालकाय समुद्री जीवों, जंगली जीवों व सब जीवों की भोजन व अन्य समस्त व्यवस्थाएँ उस प्रभु की प्रकृति द्वारा स्वतः ही, कभी अकस्मात् व कभी क्षण–क्षण होती रहतीं हैं।

उसकी विभिन्न लीलाएँ हैं। यदि हम इन नेत्रों से दिखाई न देने वाले एक जीवाणु की भी जीवन क्रियाओं को देखें, तो आचम्भित हो जायेंगे कि, किस प्रकार एक सूक्ष्म से सूक्ष्मतर जीव की देखभाल होती है? किस प्रकार उसको विभिन्न प्रकार की प्रतिभायें दी गई हैं, कि वे बड़े–बड़े भयानक रोगों को उत्पन्न कर सकता है, जो मानव जीवन को क्षणों में समाप्त कर देते हैं। इतनी उत्कृष्ट रचना है उसकी। तो विवेकशील मानव अपनी बुद्धि का व अपने जीवन के बहुमूल्य समय का दुरुपयोग सांसारिक वस्तुओं को एकत्रित करने में व उनके पीछे भागने में कभी नहीं करते। ऐसे महामानव के लिए समस्त भोग चल कर आते हैं। उसका एक ही लक्ष्य होता है कि 'जीवन काहे के लिए है'? विवेक के उत्पन्न होते ही उस महामानव की सोच–विचार, जप–तप और जीवन की समस्त दिव्य प्रक्रियाएँ मात्र एक प्रश्न का

उत्तर ढूँढने में लग जाती हैं कि जीवन काहे के लिए है? बार–बार मैं इस संसार में क्यों लाया जाता हूँ? कौन सा कर्तव्य है मेरा? कौन सा ऐसा कार्य है, जो मेरे बिना नहीं हो सकता? यदि मेरे बिना भी सब कुछ हो रहा है, तो मेरा वास्तविक कर्त्तव्य क्या है? मैं जिन वस्तुओं को निरन्तर प्रयास से बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक क्षमताओं से ग्रहण करता हूँ, संग्रह करता हूँ, वे समस्त वस्तुएँ मेरे इस संसार से विदा होते ही मेरे से छूट जाएंगी, तो मैं संग्रह क्यों करता हूँ? क्या यही मेरे जीवन का लक्ष्य है? यदि स्वतः भाव से मुझे भौतिक रूप से बहुत कुछ प्राप्त हो जाता है, तो उसका मैं क्या करूँ?

तो **जब विवेक की जागृति होती है, तो महामानव अपने जीवन के लक्ष्य को बदल देते हैं।** उनका जीवन, उनके कर्म, उनकी क्रियाएँ जीवन के लिए नहीं होतीं, बल्कि जीवन काहे के लिए है, इसलिए होती है। **ऐसे महामानव वास्तव में पुरुषार्थी कहे जाते हैं।** जैसा कि मैं कई बार वर्णन कर चुका हूँ, पुरुषार्थ का सन्धिविच्छेद करें, तो होगा पुरुष+अर्थ। यह पुरुष क्या है? **यह है मेरा चेतन स्वरूप।** उस महासत्ताधारी ईश्वर ने पुरुष एवं प्रकृति के संगम से इस महासृष्टि का निर्माण किया है।। इसी के संगम से वह इसका पालन एव संहार करता है। **पुरुष और प्रकृति के संगम से, समन्वय से ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उत्पत्ति होती है। भले ही वह स्वयं में ठोस–घन–शिला है।** जब मानव हृदय में इस रहस्य का खुलासा होता है तो असंख्य प्रश्नों की श्रृंखलाएँ पंक्तिबद्ध सी इसके मस्तिष्क में खड़ी हो जाती हैं। क्यों लाया गया हूँ मैं इस संसार में? मेरा लक्ष्य क्या है ? तो ऐसे विवेकी मानव जब किसी सत्यान्वेषी अथवा किसी संत के पीछे लग जाते हैं, तो वे सद्गुरु रूप में उनको परम सत्य की झलक दिलवाने में समर्थ होता है।

समर्थ सद्गुरु मिल जाते हैं तो उनके समस्त प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं। न केवल उत्तर ही बल्कि वह उत्तरों में समाहित हो जाते हैं। उनके श्वास में सत्य हो जाता है उनके रुदन में सत्य हो जाता है, उनकी वाणी में सत्य हो जाता है, उनकी दृष्टि में सत्य उनकी गंध में सत्य। ऐसे महामानव स्वतः ही ईश्वरीय गुणों से परिपूरित, आनन्दित और मुदिता से परिपूर्ण जीवन बिताते हैं। जब उनको यह ज्ञान

हो जाता है, कि जीवन काहे के लिए है, तो एक भ्रम समाप्त हो जाता है। एक निरर्थक दौड़ से विश्राम मिलता है।

यहाँ यह जानना अति आवश्यक है, कि ऐसे मानव यदि वास्तव में **अपनी विवेक बुद्धि द्वारा इस सत्य को पकड़ लेते हैं, कि जीवन काहे के लिए है और वह क्यों इस धरा पर लाये गये हैं? तो उनमें स्वयं में कोई परिवर्तन आने चाहिये और वे परिवर्तन होते हैं कि वे स्वभाव से ही कालातीत होते हैं, मायातीत होते हैं, धर्मातीत होते हैं, देशातीत होते हैं।** संसार के समस्त धर्म उन्हीं के होते हैं और उनका स्वयं अपना कोई धर्म नहीं होता। धर्म मानो एक प्रकार की नदियाँ है और यह नदियाँ अन्ततः उस विशाल महासागर के अन्तराल में लिप्त हो जाती है, लोप हो जाती है, अपना अस्तित्व खो देती है मात्र सागर बन जाती है। तो इसी प्रकार ये महामानव किसी विशेष धर्म रूपी पवित्र नदिया के किनारों में नहीं बंधते। वे भी उस अध्यात्म रूपी महासागर में हिलोरें खाते हैं। वे नाम और रूप के बंधनों से छूट जाते हैं। काल का बंधन इनको नहीं भासता। मानो ये उस सच्चिदानन्द ईश्वर की साक्षात् संतान हो, स्वयं में सच्चिदानन्द। जीवन और मृत्यु के भ्रम से बहुत दूर।

जो बचपन की, शिशु काल की अबोधता है, वह अज्ञानमय अबोधता होती है। जब विवेकशील मानव उस परम ईश्वरीय सत्ता के बहुत निकट पहुँच जाते हैं और जान लेते हैं कि जीवन बार–बार काहे के लिए मिला है, तो वे भी अन्ततः अबोध हो जाते हैं। परन्तु यह होती है **'बोधमय अबोधता' या ज्ञानमय अबोधता।** सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड पर उनका अधिकार हो जाता है। ऐसा लगने लगता है, कि मानिये कोटि–कोटि महाब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पर, प्रत्येक सुख–सुविधा पर, ऐश्वर्य पर उनका अपना अधिकार हो और वे उनके लिए हो। यद्यपि वे उनकी नहीं होती। यही की किसी सम्पदा से, धन से, कामिनी से या कंचन से वे कभी नहीं बंधते, परन्तु प्रत्येक वस्तु पर उनका अधिकार होता है।

यदि अति गहनता से विचार करें कि जब हम अज्ञानवश संसार में छोटी–छोटी वस्तुओं को प्राप्त करने और उन पर अधिकार करने में ही अपनी क्षमताओं का प्रयोग कर लेते हैं, तो उनका समस्त उत्तरदायित्व हमारे ऊपर आ जाता है। उनकी संभाल

व उनको खोने की चिंता हमारे अन्दर भय बनकर व्याप्त हो जाती है। तो क्या इस संसार में हम वस्तुओं को प्राप्त करने, उन्हें अपने अधिकार में रखने और यदि अधिकार में न रख पाए, तो उस भय और चिंताओं में जीवन को व्यतीत करने के लिए आए हैं ? ऐसा जँचता नहीं है। तो **विवेकशील मानव, संसार की किसी प्रकार की वस्तु को अपना नहीं समझते, अपने लिए समझते हैं।** इस महादिव्य दृष्टिकोण को प्राप्त करने के बाद वे यहाँ की प्रत्येक वस्तु का आनन्दमय भोग करते हैं। **जहाँ पर हम किसी वस्तु पर अपनत्व का अधिकार कर लेते हैं, कि यह मेरी है, वहीं पर हम पकड़े जाते हैं। समझिए कि हमारी विवेकहीन बुद्धि का उत्पाद है यह विचार कि,"यह वस्तु मेरी है"। यहाँ कुछ भी हमारा नहीं है।** भला विचार करिये, कि उत्कृष्ट मानव देह भी हमको अमुक–अमुक समय पर ही प्राप्त हुई है और इसी प्रकार स्वतः ही हमें इस देह को छोड़ना भी पड़ेगा। जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी और उस समय हम यहाँ की कोई भी वस्तु अपने साथ नहीं ले जा सकते। तो जब प्रकृति के इन महातथ्यों पर विवेकशील मानव विचार करते हैं और विशिष्ट ईश्वरीय कृपा, गुरु कृपा, आत्म कृपा से इसको अन्तर्निहित कर लेते हैं, तो यहाँ के बन्धनों से तुरन्त मुक्त हो जाते हैं। यहाँ की किसी वस्तु को वे अपनी नहीं, बल्कि अपने लिए मानते हुए सुखपूर्वक, आनन्दपूर्वक इस संसार का भोग करते हैं। आनन्द से वे इस धरा पर आते हैं, आनन्द में विचरते हैं और आनन्द में ही यहाँ से विदा होते हैं। उस आनन्द स्वरूप उस ईश्वरीय सत्ता के साथ सदा उनका साथ बना रहता है। हर क्षण, हर पल और प्रत्येक प्राण की गति के साथ वे अपने ईश्वरीय सान्निध्य को निरन्तर बनाये रहते हैं।

।। जय जय श्री राम।।

महाकाल

मैं इष्ट प्रेरणा से आपके सम्मुख एक विशेष विचारधारा का प्रगटीकरण करने जा रहा हूँ। इस महासृष्टि का निर्माण, पालन और संहार ईश्वर शक्ति किस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु एव महेश बनकर करती है, इससे आप भली–भांति परिचित हैं। **ईश्वर, सत चेतन एव आनन्द, इन तीनों का सम्मिश्रण है।** प्रश्न यह उठता है कि यदि ईश्वर सच्चिदानन्द है, तो ईश्वर द्वारा निर्मित इस महासृष्टि में विभिन्न प्रकार के कष्ट, दुख, बाधाएँ, बीमारियाँ, गरीबी और न जाने क्या–क्या क्लेश मानव–जाति को क्यों भुगतने पड़ते हैं? क्यों होते हैं? बहुत विचारणीय विषय है। यह महाकाल चक्र सम्पूर्ण जीवन काल की विभिन्न विधाओं के प्रगटीकरण के साथ घूमता है और मानव उसमें क्रमशः सुखी–दुखी होता रहता है। इसका कारण क्या है ? अति गहन विचार करने के बाद इष्ट कृपा से इस महाकाल चक्र की 1008 विधाओं का दिग्दर्शन हुआ, जिन्हें अति सक्षेप में आपके सामने वर्णन करने की कोशिश करूँगा।

युग–युगान्तारों एवं जन्म–जन्मातरों से यह अबाध एवं अगाध गति से घूमता हुआ महाकाल चक्र मानव जीवन का एक स्वरूप सा बन गया है। पहले जन्म फिर जीवन व इसके अनन्त महादृश्य, कभी बचपन, युवावस्था, विवाह संतान एवं विभिन्न प्रकार के कार्य व्यवहार तथा अन्ततः बुढापा व मृत्यु, कुछ ऐसा सा स्वरूप है इसका। तत्पश्चात फिर वही जन्म–मृत्यु का सिलसिला और फिर वही शून्य से प्रारम्भ व अन्त भी शून्य में। ऐसा सा है इस जीवन का स्वरूप। महापुरुषों के मस्तिष्क में एक ज्वार भाटा की नाईं उठती उत्ताल तरंगें में बुद्धि में हलचल मचा देती हैं। यह सब क्या है क्यों है, कब तक है यह, कहाँ तक है ? क्या यह सब सार्थक है या घोर निरर्थक। कभी जन्म, कभी मृत्यु, कभी खोना, कभी पाना, कभी मिलन, कभी विरह कभी सुख, कभी दुख, कभी विजय, कभी पराजय और न जाने कितने पहलू से हैं इसके। एक अति विकट कर्म बंधन सा मानव के हृदय में झूठी दिलासा दे देता है, ताकि विभिन्न प्रकार के कष्टों को अपने तथाकथित बुरे कर्मों का फल मान कर स्वयं को सतोष दे सके। लेकिन कभी–कभी अन्ततः प्रभु कृपा से ओत–प्रोत, सदियों में कोई महामानव इस महाकाल चक्र से कूद जाता है और स्वयं दृष्टा बनकर इसका आनन्द लेने लगता है।

पंचमहाभूतों पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश से निर्मित पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियों, पंच प्रकार की तंत्रिकाओं, पंच रसों, पच प्राणों से सुशोभित, पंच नादों से तरंगित, पच दिव्य उत्प्ररकों को समाहित किये हुए एवं पंच कर्मों की क्षमता से ओत–प्रोत यह मानव देह और इस मानव देह का एक कोशिका से माँ के गर्भ में सम्पूर्ण निर्माण, एक ईश्वरीय चमत्कार का उत्कृष्ट उदाहरण नहीं तो क्या है? सम्पूर्ण देह पूर्णतः वातानुकूल एवं स्व चालित है। जन्म–जन्मान्तरों के संस्कारों को संजोये रहती है यह। इसकी आन्तरिक मानसिक सृष्टि जिसका इस महाकाल चक्र में समय–समय पर बाह्य प्रगटीकरण, उस महाकालेश्वर की एक विहंगम लीला नहीं तो क्या है ?

उस महाशक्ति की दिव्य इच्छा से ही मानव पृथ्वी पर आता है। जिस प्रकार कोई कलाकार अनुपम कृति के निर्माण के बाद कोई कवि अपनी उत्कृष्ट कविता लिखने के बाद या लेखक अपनी किसी विशिष्ट महारचना के बाद इसकी सराहना चाहता है, शायद, इसीलिये इस ईश्वरीय महासत्ता के द्वारा निर्मित इस संसार, महानाट्य शाला जो अंलकृत है महासागरों से, असंख्य वनस्पतियों से, जीव–जन्तुओं से, उमड़ती–घुमड़ती असंख्य नदियों से, आकाश से, वसुन्धरा से और वसुन्धरा के सातों तलों से, विभिन्न ग्रहों एवं नक्षत्रों आदि–आदि से, के भव्य निर्माण के पश्चात उस महानायक ईश्वर को भी अपनी सराहना की आकांक्षा तो अवश्य हुई होगी। इसलिए **अपने द्वारा निर्मित असंख्य जीव–जन्तुओं में से मात्र मानव को इसने परम विलक्षण मस्तिष्क व बुद्धि से युक्त किया।** शायद, उसका अर्थ रहा होगा कि मानव उसके द्वारा निर्मित इस महानाट्य शाला की और इसके नाटक की प्रशंसा कर सके।

लेकिन दुर्भाग्य, मानव बौद्धिक शक्तियों को प्राप्त करते ही एक स्वयं भू ईश्वर सा स्वयं बन गया। अज्ञानवश इस सम्पूर्ण महाजगत का निर्माता, पालनकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता, वह स्वयं को ही मानने लगा। सम्पूर्ण शारीरिक बौद्धिक एवं अन्य शक्तियों को उसने अपने परिवार के लालन–पालन में ही लगा दिया। जबकि पशु–पक्षियों में भी वे सारे कार्य स्वयं ईश्वर सत्ता द्वारा ही स्वयं संचालित एवं प्रतिपादित होते हैं। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु–पर्यन्त इसने जीवन के लिए

विभिन्न कार्यों में ही अपनी समस्त शक्तियों झोंक दीं और शायद यह भूल ही गया कि मुझे बुद्धि मिली क्यों है? अर्थात इस परम चमत्कारिक मानव देह एवं परम विलक्षण मानव बुद्धि जिसका सर्वोत्तम प्रयोग मात्र ईश्वर की लीलाओं की सराहना एव प्रशंसा के लिए ही था, इसने जीवन के लिये विभिन्न प्राप्तियों, धन–सम्पदा, पदवी इत्यादि में ही लगा दिया। ईश्वरीय दृष्टि में शायद यह अपराध था। अतः उस महाकालेश्वर ने जिसके अधीन मानव जीवन का एक–एक क्षण, एक–एक पल, एक–एक श्वास और एक–एक विधा का प्रगटीकरण है, उसने मानव को अवश्य दण्ड देने का सोचा होगा। शायद आज मानव में यह महात्रास महाविक्षेप, मलिनता एवं महातनाव उस दण्ड का ही स्वरूप सा लगता है।

जैसा कि मैं पहले कई बार वर्णन कर चुका हूँ, ज़रा विचारिये कि मानव इस धरा पर स्वयं नहीं आया है, वह लाया गया है। कोई ईश्वरीय शक्ति मानव को पृथ्वी पर लेकर आयी है। उसके जन्म का स्थान, जन्म का समय, जन्म की विभिन्न परिस्थितियों, इसके माता–पिता एवं सब कुछ मानव के अपने हाथ में नहीं है और जो महाशक्ति इसको धरती पर लायी है, वे ही इसे संसार से ले जायेगी। अर्थात, जन्म और मृत्यु मानव के हाथ में नहीं है और इसके अतिरिक्त इस धरा पर आकर समस्त मानव जो–जो भी कृत्य अथवा कर्म करते हैं, यदि अति विचार पूर्वक देखा जाये, तो कोई भी ऐसा कर्म नहीं है, जो किसी के बिना नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति जब यह समझता है कि यह कार्य मेरे बिना नहीं हो सकता तो समझ लीजिए कि वह कार्य उसके बिना अधिक अच्छा अवश्य होगा।

अन्तिम बात, जो मैं आपके सम्मुख रख चुका हूँ, कि **संसार में आकर मानव भौतिक प्राप्तियों की होड़ में मृत्यु तक दौड़ता रहता है और अंत समय में सब कुछ यही छोड़ कर जाना पड़ता है। कितनी विलक्षण माया है, कि हम पृथ्वी पर लाए गए हैं और जो कुछ हम कर रहे हैं वे हमारे बिना भी हो सकता है और सब कुछ जो हम एकत्रित कर रहे हैं, हमको छोड़ कर जाना पड़ेगा।** तो प्रश्न यह उठता है कि हम पृथ्वी पर क्यों लाए गए हैं ? कहाँ से इसका उत्तर ढूँढा जाए ? इसके लिए परम आवश्यक है, कि उस महाशक्ति, जो हमको लेकर आई है, यह प्रश्न उसी से पूछा जाए। इसके लिए उस महाशक्ति

को मान्यता दी जाये। मान्यता देना ही काफी नहीं है, उसको किसी नाम और विशेष रूप में माना जाए और उसके साथ कोई विशेष सम्बंध स्थापित किया जाए। उस सम्बन्ध में श्रद्धा रखी जाये, तो शायद कभी न कभी विशिष्ट ईश्वरीय कृपा से यह उत्तर अवश्य मिल जाएगा और इस उत्तर को पाने के बाद जो मात्र ईश्वरीय शक्ति ही दे सकती है, मानव असंख्य गुणी शक्तियों से परिपूरित हो जाता है। उसमें एक विलक्षणता आ जाती है, उत्कृष्टता आ जाती है। उसकी कार्य प्रणाली और परियोजनाएँ एक अति विहंगम रूप धारण कर लेती है, जो उसकी स्वयं की बल, बुद्धि और विद्या के अनुमान से कहीं अधिक विलक्षण होती है।

इस प्रकार जब हम यह जाने बिना जीवन व्यतीत करते हैं, कि हम पृथ्वी पर क्यों लाए गए हैं, और जब मात्र जीवन के लिए ही जीवन जीते हैं, तो हम ईश्वरीय दण्ड के अधिकारी हो जाते हैं। **एक सम्पूर्ण व्यक्ति के निर्माण के समय उस महाकालेश्वर ने इसको एक व्यक्तित्व ऐसा दिया, जो भव्य है, दिव्य है, जिसके प्रगटीकरण से, एक प्रेतात्मा मानव भी ईश्वर से सम्पर्क कर सकता है।** जो आनन्द का स्रोत है, जिसके प्रकट होने के बाद संसार एवं संसार की वस्तुएँ अपना अस्तित्व खो देती हैं। इन्द्रियाँ स्वयं नत्मस्तक हो जाती हैं सेविका सी बन जाती हैं। जिसके प्रकट होने से मानव की दौड़–धूप समाप्त हो जाती है। वह स्थिर हो जाता है। एक अभावमय आनन्द की स्थिति बन जाती है। महाब्रह्माण्ड के समस्त ऐश्वर्य, सुख–सम्पदा, भौतिक निधियाँ उस महाआनन्द के सम्मुख तुच्छ सी लगने लगती हैं। ऐसा सा है यह दिव्य व्यक्तित्व, जो स्वयं में साक्षात् ईश्वरीय सत्ता का ही एक अंश है।

इस धरा पर आकर मानव अपने भौतिक व्यक्तित्वों द्वारा सम्पूर्ण ईश्वरीय सृष्टि का रसास्वादन करता है। पुनः किसी भी प्रकार से अपने दिव्य व्यक्तित्व को प्रकट करके उस आनन्द का भीतर से आभास करता है, जो उसे बाह्य जगत से इन्द्रियों द्वारा सुख रूप मे मिला है। तब अनुभव होता है कि सगस्त बाह्य जगत का सुख मात्र उसके भीतरी दिव्य स्वरूप के आनन्द का ही बाह्य प्रगटीकरण था। ये सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड की रचना मात्र आनन्द में ही की गई है। इसका संचालन एवं विध्वंस मात्र आनन्द में ही है। काल की गतियाँ मानों ठहर सी जाती हैं।

वास्तव में देखा जाए तो **काल चक्र मात्र एक भ्रम है। काल एक स्थिर सागर है। भौतिक जगत में विचरने वाला जीव अपनी अस्थिरता को काल की अस्थिरता घोषित कर देता है। महाकालेश्वर स्थिर है तो महाकाल भी स्थिर। जन्म व मृत्यु एक भ्रम है। काल का गतिमान होना केवल मानसिक विक्षेप का ही बाह्य प्रगटीकरण है। आनन्द में तो काल गति ही नहीं करता, यह परम सत्य है।** यदि समय जा रहा है, तो समय कहाँ से आ रहा है ? यदि समय आ रहा है तो जा कहाँ रहा है ? समय का आना–जाना, शुरू होना, व्यतीत होना, खोना व पाना इसके नष्ट होना या सदुपयोग होना मात्र भ्रम है।

काल स्थिर है! ठोस–धन–शिला की नाईं स्थिर! जब मानव अपनी परम विलक्षण बुद्धि का दुरुपयोग कर इस काल को भी अस्थिर घोषित कर देता है, तो वास्तव में वह इस महाकाल के एक हज़ार आठ स्वरूपों द्वारा दण्ड का अधिकारी हो जाता है। यह विचार और यह समीक्षा अपने में परिपूर्ण है। जिसके आधार पर संसार में असंख्य प्रकार के मानव के विभिन्न कष्टों, त्रासों, भयों आदि का अति सटीक वर्णन किया जा सकता है। ईश्वर ने मानव देह की रचना आनन्द में की है, अति आनन्द में। यह जीवन अपने में एक आनन्द है। जन्म आनन्द है, मृत्यु आनन्द है, सब कुछ आनन्द में है क्योंकि इस जीवन का निर्माता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता स्वयं ईश्वर आनन्द ही आनन्द है। तो किस प्रकार का कष्ट, दुख, भय, त्रास, विक्षेप एवं मलिनता यह सब उस समय उत्पन्न होती है, जब दुर्भाग्यवश मानव अपनी तुच्छ सी बुद्धि द्वारा ऐसा समझने लगता है, कि शायद संसार को वह स्वयं चला रहा है।

भला कल्पना करने का प्रयत्न करिए कि असंख्य मानव शिशु प्रतिदिन इस महाब्रह्माण्ड में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् **असंख्य नई बुद्धियों का प्रतिदिन निर्माण होता है जो असंख्य वर्षों से चल रहा है और अनन्त समय तक चलता रहेगा। तो एक महाउत्कृष्ट, विलक्षण एवं बृहद् ईश्वरीय बुद्धि अवश्य ऐसी होगी, जिससे समस्त प्रकार की बुद्धियों का निर्माण होता है।** यदि हम अपनी तुच्छ सी बुद्धि, सोच और विचारों को, योजनाओं को, इच्छाओं को उस महाबुद्धि में समाहित कर दें, उसके साथ जुड़ जाएं, तो जीवन कितना

उत्कृष्ट और विलक्षण हो सकता है, उसका अनुमान भी हम नहीं लगा सकते। मानव बुद्धि, मानव को अस्थिर करती है, दौड़ाती है, जबकि जैसे ही विवेक का पदार्पण मानव बुद्धि में होता है, तो यह उस समय स्थिरता की ओर अग्रसर होने लगता है। **बिना विवेक के बुद्धि स्थिर नहीं होती।** मानव मन स्थिर नहीं होता और यह अस्थिरता उसे वस्तुओं की ओर प्राप्ति की ओर बढ़ाती है। यदि भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति हो भी जाए, तो भोगने के लिए भी स्थिरता चाहिए।

अस्थिर बुद्धि एवं मन वाला यह मानव भोग्य पदार्थों को भोग भी नही पाता, क्योंकि यह स्वयं में अस्थिर है। उस भोग के बाद और उस भोग के समय यदि मानव बुद्धि में मन स्थिर नहीं है, तो उसका आनन्द भी नहीं ले सकता। **अन्तिम एवं विशेष लक्ष्य जीवन का आनन्द है। लेकिन सबसे विलक्षण बात यह है कि वह आनन्द मानव के हृदय में है मानव के भीतर है और उस आनन्द की जागृति के लिए, प्राप्ति के लिए नहीं क्योंकि वह तो प्राप्त है ही किसी बाह्य अवलम्बन का होना आवश्यक नहीं है।** दुर्भाग्यवश, इस विलक्षण जीवन की प्राप्ति के बाद अपनी महातुच्छ बुद्धि को ही सर्वोपरि मानते हुए जब मानव भाग–दौड़ करता रहता है, यह चीज़ों को, वस्तुओं को प्राप्त करने में यदि सफल भी हो जाये और उनका भोग भी कर ले, तो भी आनन्द से वंचित ही रहता है। बल्कि भोग्य पदार्थों के भोग से उसकी कामनायें और भटक जाती हैं। और–और के फेर में उसकी भाग–दौड़ बढ़ जाती है और इस प्रकार एक दिन थक कर वह इस संसार से विदा हो जाता है।

पुनः जन्म होता है और फिर वही भाग–दौड़ शुरू हो जाती है, ऐसा सा है यह महाकाल चक्र का विधान। लेकिन जब परम ईश्वरीय कृपा से इसको अपने भीतर समाहित एवं निहित आनन्द का आभास होता है, तो उसकी दृष्टि अन्तर्दृष्टि हो जाती है और विशेष कृपा से इसका वह आनन्द भीतर से ही प्रकट हो जाता है। तो बाह्य जगत की वस्तुएँ एवं भोग इसके भीतरी आनन्द से ही आनन्दित होने लगते हैं अर्थात् **यह बाह्य जगत के भोगों की ओर नहीं, बल्कि भोग इसकी ओर भागने लगते हैं। इसके चरणों में स्वयं आने लगते हैं। यह एक परम सत्य है।** जैसे–जैसे मानव की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं उसकी दृष्टि उसके भीतर के आनन्द

को ढूँढने लगती है और जब इसके भीतर के आनन्द को यह ईश्वरीय कृपा से ढूँढ लेता है, तो संसार के उत्कृष्ट भोग एव वस्तुएँ इसके चरणों में स्वतः ही आ जाती हैं। यह ऐश्वर्यवान हो जाता है, पूर्णकाम हो जाता है, परिपूर्ण हो जाता है। जब यह इस परम रहस्य से विमुख हो जाता है, तो यह संसार की ओर भागने लगता है दौड़ने लगता है और एक दिन थक कर चिरनिद्रा में सो जाता है।

पुनः–पुनः जन्म–जन्मान्तरों, युग–युगान्तरों तक यह निरर्थक दौड़ चलती रहती है, चलती रहती है अगाध एवं अविरल गति से। कभी सुख, कभी दुख, कभी खोना, कभी पाना इत्यादि न जाने कितने पड़ावों से होकर यह क्रमशः गुज़रता रहता है और गुज़रता ही रहता है। लेकिन अंत में लक्ष्यहीन सा बार–बार संसार से विदा होता रहता है। इसलिए यह परम आवश्यक है कि इस धरा पर आने के बाद होश सम्भालते ही अपने भीतर के आनन्द के महास्रोत को ढूँढने का प्रयत्न शुरू कर देना चाहिए वरना जीवन निरर्थक ही बीत जायेगा। न केवल एक जीवन, बल्कि असंख्य जीवन। जो लोग इस भौतिक दौड़ में स्वयं को बहुत व्यस्त मानते हैं और उनके पास अपने परम सत्य स्वरूप का दिग्दर्शन करने का समय ही नहीं है, वे अन्ततः निराशा में ही चले जाते हैं। अन्त में जीवन में उनके हाथ में निराशा या विक्षेप के अतिरिक्त कुछ नहीं होता, क्योंकि जितनी भी भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति हम चाहते हैं, इनका कभी अंत नहीं है। कामनायें व इच्छायें कभी समाप्त नहीं होती। एक इच्छा पूरी होती है, तो दूसरी उसके साथ ही खड़ी हो जाती है। मानव की भटकन बढ़ जाती है। क्योंकि **जिन वस्तुओं को वह प्राप्त करना चाहता है, वे स्वयं में अस्थिर हैं और दूसरा दुर्भाग्य यह है कि इसको प्राप्त करने वाला यह मानव और यह मानव जीवन अपने में अस्थिर है अर्थात् वस्तुओं की प्राप्ति अस्थिर, वस्तुएँ स्वयं में अस्थिर और उनको प्राप्त करने वाला अस्थिर।**

इसके अतिरिक्त प्राप्त होने के बाद उनका भोग और भोग के दौरान आनन्द प्राप्ति की संभावना की अस्थिरता, कुछ भी तो स्थिर नहीं है। तो जहाँ स्थिरता नहीं है, वहाँ पर किसी भीतरी आनन्द की जाग्रति और उस आनन्द का दिग्दर्शन और उस आनन्द से आनन्दित होने का भाव ही निरर्थक है, ऐसा हो नहीं सकता। इसलिए जीवन के **कर्मों में से एक विशिष्ट कर्म है स्थिरता उत्पन्न करना विचारों**

में, भावों में देह में। जब तक भीतर से मानव स्थिर नहीं होगा, तब तक इसको अपने भीतर छिपे हुए अथाह आनन्द के सागर की खोज नहीं हो सकती। इसलिए **स्थिरता मानव का एक विलक्षण गुण है, जो ईश्वरीय कृपा से विकसित किया जा सकता है। तो भौतिक स्थिरता, दैहिक स्थिरता व विचारों की स्थिरता ही इसके अन्तर्निहित इस विशाल आनन्द के स्रोत की ओर अग्रसर कर सकती है। समस्त जप, तप, साधना, उपासना एवं अन्य दिव्य कर्म–काण्ड जो भी है, इनका अन्तिम लक्ष्य है स्थिरता।**

इस स्थिरता की आवश्यकता क्यों है? आप मुझ से सहमत होगें, कि जो दिव्य पदार्थ है संसार में उनकी प्राप्ति इतनी सुलभ नहीं है। दिव्यतम पदार्थों की उपलब्धि के लिए कष्ट सहना पड़ता है। मानव बुद्धि अपने में परम उत्कृष्ट है, विलक्षण है। तो इस बुद्धि के समस्त कार्यों के बारे में भी हम नहीं जानते। मात्र, सम्पूर्ण जीवन में इस बुद्धि के केवल कुछ ही कार्यों द्वारा हम अपना निर्वाह कर लेते हैं। लेकिन जब जप, तप इत्यादि क्रियाओं द्वारा हम स्थिर देह से विभिन्न आसनों द्वारा, प्राणायाम द्वारा, विभिन्न क्रियाओं द्वारा अपनी बुद्धि को स्थिर कर लेते हैं, तो स्थिर बुद्धि एवं मन से अनेक ऐसे विलक्षण एवं दिव्य विचार व आनन्द के स्रोत फूट जाते हैं, जिनका साधारण मानव कल्पना भी नहीं कर सकता। तो विशिष्ट एवं असाधारण जीवन व्यतीत करने के लिए हमें मानव मन को स्थिर करके उसमें से उन विलक्षण वस्तुओं को प्राप्त करना होगा, जिनको छुए बिना ही हम पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं।

सागर के किनारे के जल से, पावों के भीगने के डर से यदि कोई भाग रहा है, तो इसके अन्तराल में छिपे हुए मोतियों को कौन बाहर निकालेगा ! 'ऐ मानव! यदि आम्र तरु के सबसे निचली और छोटी सी डाली पर लगे हरे–हरे कच्चे आम के खाने से ही तुझे संतोष हो गया हो, तो इसकी ऊपर की डाली पर लगे लाल–लाल पके आम को कौन तोड़ेगा!'

जीवन एक सुरा है, एक आनन्द है और स्वयं में आनन्दमय है। इसका आनन्द इसके भीतर के महास्रोत में नीहित है, समाहित है। जिसके प्रगटीकरण करने के लिए जप, तप एवं परम ईश्वरीय कृपा का होना अति आवश्यक है और उसके लिए आवश्यक है बाह्य दौड़–धूप का

बन्द होना। तो यह विषय विशिष्ट मानवों के लिए है, सर्व साधारण के लिए नहीं है। अपने भीतर के आनन्द के स्रोत का दिग्दर्शन करने के लिए, स्पर्श करने के लिए उस आनन्द का वास्तविक आनन्द लेने के लिए भीतरी स्थिरता का होना परम आवश्यक है। तो क्यों न हम इस महाकाल चक्र के विभिन्न कष्टमय पहलुओं, से बचने के लिए अपने हृदय को अपनी बुद्धि को, देह को स्थिर करके अपनी भीतर की शक्तियों को प्रस्फुटित करें, जो न जाने कितने जन्मों से सुषुप्त पड़ी हुई हैं! जिनका हमने कभी दिग्दर्शन भी नहीं किया और जिन शक्तियों के प्रस्फुटित होने का हमने कभी आनन्द भी नहीं लिया। उन शक्तियों का प्रयोग हम भीतर के आनन्द को खोजने में लगायें और इस प्रकार हम इस संसार में रहते हुए संसार के परम सुखों, ऐश्वर्यों को भोगते हुए अपने भीतरी आनन्द में समाहित हो जाते है। शायद जीवन का यही परम लक्ष्य है।

यह सम्पूर्ण विश्व हमारी जागृति की मान्यता पर आधारित है, जो एक परम रहस्य है, परम सत्य है। जिस दिन यह मान्यता समाप्त हो जाएगी तो मानव, मोक्ष पद की ओर अग्रसर हो जायेगा। मोक्ष क्या है ? सांसारिक मान्यताओं का ईश्वर में एकीकरण। जब हम समस्त मान्यताएं, समस्त सम्बन्ध ईश्वर में ही कर लेते हैं, तो संसार के बन्धन स्वतः ही ढीले पड़ जाते हैं, क्योंकि हमारी सांसारिक मान्यताएं भले ही क्षणिक हमको सुख देती हों, हर्षित करती हों, अन्ततः यह सांसारिक सम्बन्ध हमारे कष्ट का हेतु कभी न कभी अवश्य बन जाते हैं।

समस्त मान्यताओं का आधारभूत केन्द्र है हमारी देह और कभी विशिष्ट प्रभु कृपा से मानव की अपनी देह से ही मान्यता हट जाए, तो जैसा कि मैं पहले भी अपने प्रवचन में वर्णित कर चुका हूँ कि वह स्थिति जब भाव द्वारा अपनी देह की मान्यता समाप्त हो जाए, उस मानसिक स्थिति का नाम है **एकांत**। जहाँ इस एक देह का अंत हो जाता है। जैसे ही भाव में भीतर से यह एकांत की स्थिति बन जाती है, उसी के साथ सत्संग स्वतः ही प्रारम्भ हो जाता है, सत्य क्या है? मानव पृथ्वी पर बार–बार क्यों आता है, इसका रहस्य क्या है? कहाँ से चला है यह और कहाँ इसकी दौड़ समाप्त होगी? इसकी यह दौड़ क्यों है? इत्यादि–इत्यादि असंख्य रहस्य एक–एक करके स्वतः ही खुलने लग जाते हैं, इस एकान्त के सत्संग के द्वारा। बाहर से कहीं

प्रवचन सुनने की, पुस्तकों या ग्रन्थों को पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। लेकिन यह सम्पूर्ण प्रकरण मात्र इष्ट एवं ईश्वर की कृपा से, गुरु कृपा और अन्ततः आत्म कृपा से ही संभव हो सकता है, वरना कदापि नहीं।

।। जय जय श्री राम।।

महाकाल की विधाएं

जो सदा सत्य चेतन और आनन्द स्वरूप है उस सत्ता का नाम है ईश्वर। वह जन्म एवं मृत्यु से रहित है अर्थात् अकाल है। जिस प्राणी का जन्म होता है, उसकी गत्यु अवश्य होती है। यदि हम जन्म को मान्यता देते हैं, तो मृत्यु को भी साथ ही मान्यता देनी पड़ती है। जबकि सत्य यह है कि जन्म व मृत्यु दोनों मात्र भ्रम है। यदि हम स्वयं से यह पूछें, कि क्या आपने अपना जन्म देखा है? तो उत्तर होगा–नहीं। इस संसार में किसी ने भी अपना जन्म होते नहीं देखा और इसी प्रकार कोई भी अपने आपको मृतक व अपनी मृत्यु नहीं देखता। क्या हमने अपनी निद्रा देखी है ? नहीं! **जब हम जीव–कोटि में आकर भी स्वयं को देखते हैं, तो अपने आपको सदैव जागृत ही जागृत देखते हैं चेतन ही चेतन देखते हैं। किसी ने अपनी सुषुप्त अवस्था को भी नहीं देखा है स्वयं।** तो एक ईश्वर अंश जो जीव है वह भी जब स्वयं को देखता है, तो जन्म, मृत्यु सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से अलग सदा अपने आपको जाग्रत एवं चेतन सत्ता में ही देखता है। यह परम सत्य है। **ईश्वर कालेश्वर है। काल उसके अधीन है और वह स्वयं काल से परे है।** लेकिन हम जीव–कोटि में आकर रवयं जन्म और मृत्यु को मान्यता देते हुए काल के अधीन हो जाते हैं।

ईश्वर आनन्द स्वरूप है। तो भला विचार करिए यदि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस ईश्वर द्वारा रचित है, तो जो स्वयं आनन्दस्वरूप है वह क्या कष्टों का, दुखों का, रोगों का व दोषों का निर्माण कर सकता है ? जो स्वयं में सत्य है, वह असत्य का निर्माण कैसे कर सकता है ? तो यह विचार कहाँ से आए ? **जब हम उस अकाल को काल में बाँध लेते हैं, उसी समय सत्य, असत्य में परिवर्तित हो जाता है और आनन्द का भी प्रायः लोप हो जाता है।**

इस महाब्रह्माण्ड में समस्त प्रकार के पदार्थ पहले से ही निर्मित किए हुए हैं आप जंगल के और समुद्र के जीव–जन्तुओं को देखिए, पशु–पक्षियों को देखिए कि किस प्रकार उनका सब काम स्वयं चलता है ? सबकी सब व्यवस्थाएं स्वयं होती है भले ही उनमें कितनी भी अल्प बुद्धि होती है। उनका खान–पान, रहन–सहन, उनकी रक्षा, सुरक्षा इत्यादि समस्त साधनों का उस ईश्वरीय इच्छा से स्वतः ही प्रबन्ध होता है।

लेकिन दुर्भाग्यवश जब मानव जन्म में आकर बोध होता है, अबोधता समाप्त होती है, तो बोध होते ही संस्कारोंवश एवं सामाजिक परिस्थितियों वश पहला कार्य इसके सम्मुख होता है–**जीवन यापन**। जबकि सत्य यह है कि इस भौतिक जगत में सम्पूर्ण जीवन काल में जो–जो भी हमें उपलब्धियाँ होती है, समस्त स्वतः ही होती रहती हैं, जिसका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। उस विशेष उपलब्धि के समय वह परिस्थिति उस समय वैसी ही बन जाती है, स्वतः ही साधन जुट जाते हैं और जो कार्य होना होता है, वह स्वत. ही हो जाता है। इसको कहा है–**स्वतः भाव**। जहाँ स्वतः भाव होता है, वही ईश्वरीय भाव होता है।

यदि हम कभी एकान्त में बैठ कर मनन करें, अपने अतीत पर विचार करें, जब से हमने होश संभाला है, तब से लेकर आज तक, जो जीवन में विशिष्ट घटनायें बीत चुकी हैं, उनमें यदि एक–एक घटना पर हम विचार करें, तो हम पाएंगे उन घटनाओं के घटित होने में हमारी बुद्धि का कोई भी योगदान नहीं था। उस समय वैसा ही भाव बन जाता है, वैसा ही सब कुछ जुट जाता है, जो उस घटना के होने में आवश्यक होता है। इसी प्रकार भविष्य में भी जो होगा, वो भी स्वतः ही होगा। उसमें भी हमको कुछ करना नहीं पड़ता। यदि वह ईश्वरीय कार्य है, तो उसमें **तीन आनन्द–कार्य प्रारम्भ होने से पहले आनन्द, कार्य के दौरान आनन्द और कार्य की समाप्ति के बाद भी आनन्द ही होता है। ईश्वर आनन्द स्वरूप है और ईश्वर कृत्य जितने भी होते है, भले ही वे भौतिक जगत के, भौतिक वस्तुओं के बारे में ही हों, वे तीनों आनन्दों से सदा युक्त रहते हैं।** तो जो भी घटना, घटित होने से पहले, घटित होते समय और घटित होने के पश्चात् आनन्द में ही घटित होती है, तो वह ईश्वरीय है। लेकिन दुर्भाग्यवश जब हम बुद्धि की शक्ति को प्राप्त करते ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वयं को अधिष्ठाता समझ लेते हैं, कि मैंने अपने जीवन को चलाना है, अपने बच्चों के जीवन को मैंने बनाना है और मैं यहाँ पर विशेष कर्मों और कर्त्तव्यों के लिए आया हूँ, मेरा यह उद्देश्य है, वहीं से दुख शुरु हो जाते हैं।

भला विचारिए कि जो सुन्दर देह परमात्मा ने हमें दी है, ये अपने मे एक अद्भुत चमत्कार है, महाचमत्कार। इस देह में यदि हम छोटी सी कोशिका की कार्य प्रणाली

के बारे में ही विचार करें, तो हमे ईश्वरीय का और उसके चमत्कारों का दिग्दर्शन हो जाता है। यह देह जो हमें स्वतः मिली है और इस प्रकार स्वतः ही चली जाती है। अगले क्षण क्या घटने वाला है, इसके बारे में भी हम नहीं जानते। अतीत में जो घटनाएँ घटी, वे क्यों घटी, हम नहीं जानते। अमुक–अमुक लोग अमुक वातावरण में क्यों मिले एवं इस समय हम विशिष्ट परिस्थितियों में क्यों विचर रहे हैं? वह भी हम नहीं जानते। तो इस सबका अर्थ यह है यदि हम विचार करें, तो पाते हैं कि हमें कोई महाशक्ति खिला रही है। हम तनावित क्यों होते हैं? उस परम ईश्वरीय इच्छा से जीवन चल रहा है, चलता रहता है, चलता रहेगा।

हम इस जीवन को अपने हिसाब से चलाना चाहते हैं। जबकि जीवन स्वतः भाव से, ईश्वर इच्छा से चल रहा है। जो स्वतः भाव से कार्य हो रहे हैं, उनको उसी प्रकार चलाते हुए हम ईश्वर निमित्त करते हुए चलें, तो उनके फलस्वरूप जो भौतिक उपलब्धियाँ होती हैं, हम उनका भोग और आनन्द भी ले सकते हैं। लेकिन हम न जाने क्या–क्या रचनाएँ करते हैं अपनी बुद्धि से। जो जन्म देता है व जिसकी इच्छा से मृत्यु होती है, तो सब उस परमात्मा की इच्छा से चल रहा है और वह ही हमारी बुद्धि को समय–समय पर विशिष्ट कार्यों के लिए प्रेरित करता है।

तो क्या हम अपनी बुद्धि द्वारा उसके इस स्वतः भाव से होने वाले कार्यों की प्रतीक्षा नहीं कर सकते? लेकिन हम मोहवश, अज्ञानवश और अहम्‌वश यह भूल जाते हैं कि बुद्धि का सर्वोत्तम प्रयोग ईश्वर स्वयं ही करेंगे, जब वे चाहेंगे। तो भूल से हम स्वयं योजनाएँ बनाने लगते हैं। अपनी ही नहीं, अपने बच्चों की भी। हम स्वयं ब्रह्मा, विष्णु और महेश बन जाते हैं और उसमें उलझ जाते हैं। हम अपनी इच्छाओं से ईश्वर इच्छाओं को मोड़ना चाहते हैं।

किसी भी धागे में तनाव कब आता है? जब उसके दोनों किनारों पर दो विपरीत शक्तियाँ काम करने लगती हैं, तो वह धागा तन जाता है। यही कारण है हमारे मस्तिष्क में तनाव का। ईश्वर इच्छा स्वतः भाव से कुछ और करवाना चाहती है और हम कुछ और करना चाहते हैं। ईश्वर के विमुख हो जाते हैं हम, तो मस्तिष्क तनावित हो जाता है। अन्त में होता वही है, जो ईश्वर की इच्छा होती है। क्योंकि रस्सी को एक तरफ कोई समर्थवान खींच रहा हो और दूसरी ओर कोई बहुत निर्बल

खींच रहा हो, तो समर्थवान जिस छोर पर कार्य करता है, रस्सी वहीं खिच जाती है, उस ओर चली जाती है। अतः उस आनन्दमय जीवन को जो चलना था ईश्वर इच्छा से और बुद्धि द्वारा जिसकी हमने प्रशंसा करनी थी, तो निरर्थक हम उसके विपरीत चलकर कष्टों में जीवन बिता देते हैं। यही सारे ब्रह्माण्ड में मानवों के भय, त्रास, चिंता एवं विशेष का परम हेतु है। तो हम बुद्धि द्वारा एक नहीं अनेक प्रकार के ईश्वरीय अपराध करते हैं। हम यदि विचार करें तो हमें प्रमाण मिल जाएगा कि इस महाब्रह्माण्ड में सब कुछ ईश्वर इच्छा से ही हो रहा है। जन्म, मृत्यु, लाभ, हानि, यश, अपयश और करोडों ब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन एव संहार, उस ईश्वर इच्छा से ही होता है। पाँच महाभूतों पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से निर्मित यह संसार महानाट्यशाला अपने में एक उत्कृष्ट ईश्वरीय चमत्कार है। असंख्य तारागण, वायुमंडल, पृथ्वी के सातों तल असंख्य वनस्पतियों, असंख्य प्रकार के जीव–जन्तु, उनका निर्माण, उनका पालन, उनका संहार और न जाने क्या–क्या? जब हम इन ईश्वरीय कृत्यों पर थोड़ा भी अपनी बुद्धि द्वारा विचार करते हैं, तो स्वतः ही मुख से निकल जाता है–वाह, वाह। अद्भुत, उत्कृष्ट, विलक्षण, अद्वितीय, विहंगम। हमारे पास विशेषण कम पड़ जाते हैं। तो शायद बुद्धि का मात्र यही परम सदुपयोग था, जिसके लिए उस परम ईश्वरीय सत्ता ने मानव को परम उत्कृष्ट बुद्धि दी।

आज विज्ञान का युग है। जैसा कि मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ कि विज्ञान मानव की बुद्धि की उपज है, जिसके द्वारा हम ईश्वरीय रहस्यों को थोड़ा बहुत जान लेते हैं। इन वैज्ञानिक अविष्कारों का अपने जीवन के सुख के लिए उपयोग करते हैं। यदि हम उस परमोत्कृष्ट ईश्वरीय सत्ता के रहस्यों को जानने के बाद अपने जीवन को उतना सुखी एवं सुविधापूर्वक बना लेते हैं, तो उस प्रकृति के निर्माता की तो, और भी प्रशंसा का कारण हमारे लिए बन जाना चाहिए। वैज्ञानिकों को तो और भी ईश्वर के सान्निध्य में पहुँचना चाहिए। पर दुर्भाग्यवश, उस प्रकृति की खोजों के साथ–साथ मानव उस ईश्वर से दूर होता जा रहा है। यदि यह बुद्धि का सदुपयोग करता, तो इन वैज्ञानिक खोजों के बाद उस ईश्वर के और निकट पहुँच जाता। 'हे प्रभु! तुम्हारी प्रकृति में कितने रहस्य छुपे हैं, तुम स्वयं क्या हो, कितने विलक्षण हो तुम?' वैज्ञानिकों को तो और भी प्रशंसक होना चाहिए था, लेकिन न जाने क्या कारण है कि

विज्ञान के युग में मानव ने ईश्वरीय सत्ता को नकारना शुरु कर दिया है। तो जो विज्ञान, बुद्धि की उपज है वह बुद्धि किसकी उपज है? उसको किसने बनाया है ? इस विषय पर थोड़ा सा कोई भी जिज्ञासु अपनी बुद्धि द्वारा ही विचार करे, तो वहीं उसको ईश्वरीय शक्ति की विलक्षणता का आभास होना शुरू हो जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो–जो भी कुछ है उस सब पर ईश्वरीय सत्ता का एकाधिकार है और हमारे जीवन काल में जो कुछ भी हमें ईश्वर ने उपलब्ध करवाया है, हमारे प्रारब्धवश, सस्कारों–वश, तो हमें उससे संतुष्ट होना आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु पर व यहाँ की प्रत्येक उपलब्धि पर हम अपना अधिकार छोड़ दें कि **यह मेरी है** यह अधिकार भी एक अपराध है।

जब कोई मानव अपराध करता है, उसके अन्दर स्वतः ही भय उत्पन्न हो जाता है। आज सारा संसार भय से व्याप्त है। किसी को देह का भय, किसी को संतान का भय, किसी को पद का भय, धन का भय अैर न जाने कितने भयों से प्रत्येक व्यक्ति ग्रसित है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें, उस भय के पीछे कारण है हमारा अवैध अधिकार। यदि यहाँ की समस्त प्राप्तियों को हम यह मानकर चलें, कि **यह मेरे लिए है मेरी नहीं है'** तो उसी समय हम भय से मुक्त हो जायेंगे। अभय हो जाएंगे।

भिन्न–भिन्न मानसिक वृतियों के अनुसार जब हम स्वयं, जीवन के ठेकेदार बनकर जीवन चलाना चाहते हैं और यह समझने लगते हैं कि हमारा जीवन हमारी बुद्धि से ही चल सकता है, तो समझिए कि ईश्वरीय दृष्टि में पहला अपराध वही शुरु हो जाता है, जिसकी सज़ा अवश्य मिलती है। कभी सत्संग द्वारा, इष्ट कृपा द्वारा, गुरु कृपा द्वारा व आत्म कृपा द्वारा हमको सत्य बोध हो जाये, तो हम स्वयं को सुधार लेते हैं या अपना दृष्टिकोण बदल लेते हैं। जब हम सब कुछ ईश्वरमय कर देते हैं, तो उस समय हमारी सज़ाओं में कमी आ जाती है या वे समाप्त तक हो जाती हैं। ईश्वर बहुत दयालु है, कृपालु है। तो वे क्या–क्या विभिन्न प्रकार की सजाएं हैं? अगर सत्य पूछिये, तो ईश्वर किसी को सज़ा भी नहीं देते। हम स्वयं ही उलझ जाते हैं। उसकी इच्छा के विपरीत चलने और उसकी इच्छा के विपरीत सोचने में जब हम अपनी मानवीय शक्तियों बल, बुद्धि और विद्या का दुरुपयोग करने लगते हैं, तो हम

विभिन्न प्रकार के कष्टों व दुखों से स्वयं ही ग्रसित हो जाते हैं। ईश्वर का तो हर कृत्य आनन्दमय है, आनन्द से आनन्द तक।

मैं कई बार तीन विचार आपके सम्मुख रख चुका हूँ। **प्रथम**, हम इस संसार में लाए गए हैं और कभी भी समय निकाल दिए जाएंगे। **दूसरा,** हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह कार्य हमारे बिना भी और अधिक अच्छा हो सकता है और जो कार्य हमारे बिना भी हो सकता है, वह हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकता है ? तो क्या कर्मों अथवा कर्तव्यों का बोझ हम निरर्थक तो नहीं ढो रहें हैं? और **तीसरा** विचार–जो कुछ हम संसार में भौतिक उपलब्धियाँ कर रहें हैं या उनको प्राप्त करने के लिए जीवन व्यर्थ कर रहे हैं, **उन समस्त वस्तुओं को हमें मृत्यु के समय यही छोड़कर जाना पड़ेगा।** तो प्रश्न यह उठता है, कि हम इस संसार में लाए क्यों गए हैं? उस परम पिता परमात्मा ने जब एक भी मानव देह का निर्माण किया होगा, तो उसके पीछे कोई कारण तो अवश्य रहा होगा। होश संभालने के बाद क्या हम यह प्रयत्न करते हैं, कि हम उस कारण को ढूँढ़ने की कोशिश करें? उस ईश्वरीय सत्ता के सान्निध्य में बैठकर उससे यह जानने का प्रयत्न करें, कि वह इस संसार में हमें लाया क्यों है? कोई भी इस बात का प्रयत्न नहीं करता। हम अपनी परिकल्पनाओं और अपने विचारों से अपने जीवन को अपना नया रूप, नया रंग, नया मोड़ देने लगते हैं। कर्त्तव्यों का बोझ हम लाद लेते हैं। यही नहीं, इसमें स्वयं को हम बहुत व्यस्त घोषित कर देते हैं। सदा समय के अभाव में ही रहते हैं। तो ऐसी स्थिति में वह महाकालेश्वर मानव को अवश्य सज़ा देते हैं।

दूसरा, हम उस कालेश्वर के महाकाल सागर को जन्म और मृत्यु नामक दो किनारों में बाँध लेते हैं। संसार में कष्टों का यह दूसरा बड़ा कारण है, बड़ा विचारणीय विषय है। आप विचार करिए, कि एक नवजात शिशु बहुत छोटा होता है, अबोध होता है। फिर वह धीरे–धीरे बड़ा होता है। जब तक मानव शिशु अबोध रहता है, तब तक उसके मस्तिष्क में समय की कोई गणना नहीं रहती, उसके लिए समय का कोई महत्व नहीं होता। मात्र खाना, पीना, सोना और खेलना यही उसका कार्य होता है और माता–पिता व अन्य सगे–सम्बन्धी उसके इन खेलों का ही आनन्द लेते हैं। उसकी बाल–क्रीड़ाओं का आनन्द लेते हैं। अबोध शिशु को हम कभी नहीं कहते

कि वह निरर्थक समय व्यतीत कर रहा है। जितना शिशु अबोध होता है, उसको सब प्रकार की सुविधाएँ अपनी क्षमता के अनुसार माता–पिता देने का प्रयत्न करते हैं और उसकी अबोधता का आनन्द लेते हैं और स्वयं में वह आनन्दमय होता है। इसी प्रकार जब हम सुषुप्त अवस्था में होते हैं सो रहे होते हैं, उस शयनकाल में समय की कोई गणना नहीं होती और सोए हुए व्यक्ति का कोई कर्म या कर्त्तव्य नहीं होता। इसी प्रकार मृतक स्थिति में किसी मृतक काया या शव का कोई समय बन्धन नहीं होता। वह धर्मातीत, कर्मातति, कालातीत, देशातीत, कर्त्तव्यातीत होता है। अतः शव भी पूजनीय होता है। अबोधता में, निद्रा में, समाधि में और मृत्यु मे समय की कोई गणना नहीं होती व कर्त्तव्य एव कर्मों का कोई लेखा–जोखा नहीं होता।

जब मानव को बोध हो जाता है, उसकी बुद्धि कार्य करने लगती है, तो वह महाकालेश्वर इस समय रूपी सम्पूर्ण महासागर को अपनी बुद्धि की तुच्छता के कारण एक छोटे से तालाब में बंद कर लेना चाहता है और उस समय वह स्वयं ही नहीं बंधता, बल्कि अपने परिजनों को और जहाँ–जहाँ उसकी शक्ति चलती है, उनको भी बाँध लेता है। अधिक प्रभावशाली व्यक्ति ऐसा प्रगट करते हैं, कि मानों उनके बिना संसार न चल सकता हो। हजारों–लाखों लोग उनके अनुयायी बन जाते हैं और वह अपने आपको बहुत कर्मठ घोषित कर देते हैं। ऐस व्यक्ति कभी न कभी ऐसा कार्य कर बैठते हैं, कि उनके सारे जीवन में करे–धरे का न केवल निरर्थक बल्कि नकारात्मक परिणाम होता है। अगर वे कुछ न भी करते, तो ज्यादा अच्छा होता। उनकी नकारात्मकता को आने वाली पीढ़ियों युगों–युगों तक भोगती रहती हैं। तो प्रायः लोग कई बार प्रश्न करते हैं या तर्क करते हैं, कि वह भी तो ईश्वर इच्छा थी। नहीं! ईश्वर इच्छा का जैसा मैं वर्णन कर चुका हूँ, कि जब कोई ईश्वरीय कार्य, ईश्वर इच्छा से होते हैं, तो उसमें कार्य प्रारम्भ होने से पहले आनन्द होता है कार्य के मध्य में आनन्द और कार्य की समाप्ति के बाद आनन्द होता है। ऐसा आनन्द जिसका युग–युगान्तरों तक मानव सृष्टि रसास्वादन करती है।

जो कार्य ईश्वरीय होते हैं, वे स्वतः भाव से होते हैं। उनके लिए स्वतः ही परिस्थितियाँ बन जाती हैं और उनका परिणाम भी आनन्दमय ही होता है। मानव बुद्धि का प्रयोग भी उसमें स्वतः ही होता है। विभिन्न प्रकार की

विचारों की श्रृंखलाएँ स्वतः ही चलने लगती हैं और उसके अनुकूल वातावरण तैयार हो जाता है। उसी प्रकार की शिक्षा–दीक्षा व विभिन्न प्रकार के ज्ञान एवं विज्ञान की उपलब्धि स्वयं ही होती है। स्वतः उसी प्रकार के शिक्षा संस्थान प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ पर भाग–दौड़ कर या रिश्वत देकर प्रवेश लेने की होड़ नहीं होती। दुर्भाग्यवश, आजकल माता–पिता अपने बच्चों के भविष्य का निर्माण स्वयं निर्धारित करते हैं और एक विशेष प्रकार के व्यवसाय में उनको डालने के लिए लाख रुपये रिश्वत देकर कहीं न कहीं उनको दूर–दराज़ के क्षेत्रों में प्रवेश दिलाते हैं। तो यह सब कार्य अप्राकृतिक है। जो ईश्वर इच्छा से कार्य होते हैं उनमें ऐसी भाग–दौड़ की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार जो मानव सन्तान अप्राकृतिक रूप से अपने धन के और बुद्धि के निरर्थक बल पर कुछ बन भी जाती हैं। तो बनने से पहले व बाद में वे स्वयं के लिए व समाज के लिए प्रदूषण फैलाते हैं। उनका कोई भी कृत्य किसी के भले के लिए नहीं होता।

जो लोग ईश्वर इच्छा से कुछ बनते हैं, उनके साधन स्वयं जुट जाते हैं। उसी प्रकार के उन्हें शिक्षा–संस्थान मिल जाते हैं। उसी प्रकार के शिक्षक उन्हें स्वतः ही मिल जाते हैं और उसके बाद जो कुछ ईश्वर इच्छा से वे स्वयं बन जाते हैं या शिक्षा प्राप्त करते हैं। वे उनके स्वयं के लिए और मानवता के लिए आनन्द का कारण होते हैं। तो उन माता–पिताओं को, अभिभावकों को यहाँ पर यह जान लेना अति आवश्यक है, कि वे अपने बच्चों के भविष्य का निर्धारण स्वयं न करें क्योंकि ईश्वर इच्छा से जो भी जीव इस संसार में आया है उसका भविष्य बना हुआ है। लेकिन जब इसके विपरीत अपनी बुद्धि धन व बल के प्रभाव से वह कोई कृत्य करेगा, तो वह किसी न किसी बड़े कष्ट का द्योतक अवश्य हो जायेगा। यह जान लेना अति आवश्यक है। यह समस्त भूमिका मैं उस महाकालेश्वर की 1008 विधाओं का वर्णन करने से पहले दे रहा हूँ, ताकि हमको ज्ञात हो जाये, कि किस प्रकार हम अपराध करते हैं, उस महाकाल के साथ किस प्रकार हम अपने बौद्धिक बल से खिलवाड़ करते हैं? उस प्रकृति में हम किस प्रकार बाधा डालते हैं? विचारपूर्वक देखा जाए, तो सम्पूर्ण जीवन का, जन्म से मृत्यु तक समस्त कार्यक्रम बहुत ही स्वतः भाव से होता है।

प्रश्न यह उठता है कि इतनी उत्कृष्ट शक्ति, यह मानव बुद्धि जो ईश्वर ने दी है, इसका नियंत्रण कैसे किया जाए? तो इस बुद्धि के नियंत्रण के लिए विवेक का होना अति आवश्यक है। वह इस बुद्धि की शक्ति को नियंत्रित करता है, ताकि मानव स्वतः इसके दुरुपयोग से, ईश्वरीय कृत्यों में बाधा न डाले व कष्टों से ग्रसित न हो। उसके लिए महापुरुषों ने ईश्वरीय जाप या सिमरन, उसका चिंतन व मनन बहुत सुन्दर उपाय बताएँ हैं। इतनी महाशक्ति है यह बुद्धि, इसको प्राप्त करने के बाद यदि हमको कुछ कर्त्तव्य करना है, कुछ कार्य करना है, वह यह कि हम इसका नियंत्रण करें। इसकी भौतिकता को समाप्त कर इसकी दिव्यता को जागृत रखें। इसकी दिव्यता को जाग्रत करने के लिए और दिव्यता में परिणत करने के लिए ईश्वरीय जाप का बहुत महात्व है। जाप की विभिन्न स्थितियों के विभिन्न प्रकार मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि किस प्रकार जाप इस बौद्धिक शक्ति को नियंत्रित करता है और सदुपयोग के लिए प्रेरित करता है।

आपने अपने जीवन काल में अनुभव किया होगा, कि जब कोई विशिष्ट घटना घटती है, तो पहले से ही बुद्धि में अकस्मात् उसी प्रकार के विचार आने शुरू हो जाते हैं। जब कभी ऐसा हो, तो आप धैर्यपूर्वक मनन करिए और देखिए। यदि उसी के अनुसार स्वतः ही परिस्थितियाँ बन जातीं हैं, तो समझ लीजिए कि ईश्वर ही आपके द्वारा कार्य करवाना चाहते हैं। यहाँ तक कि आपको निमित्त बनाकर आपको वह प्रशंसा भी दिलवा देते हैं।। लेकिन अज्ञानवश हम उस प्रशंसा को पाने के बाद अभिमान–युक्त हो जाते हैं, कि, 'यह कार्य मैंने अपने बौद्धिक प्रयोग से किया है।' जबकि वास्तविकता यह होती है, कि उस कार्य का समस्त संचालन, उत्पादन एवं उसकी समाप्ति ईश्वर इच्छा से ही होती है। इसके परिणाम स्वरूप उसमें मिली हुई प्रशंसा भी हमारी आलोचना का कारण बन जाती है। यदि प्रभु कुछ ऐसा कार्य हमसे करवा दें, कि जिससे हमको प्रशंसा मिल जाए और प्रशंसा को हम स्वयं की बौद्धिक चतुरता का कारण मान लें, उसमें भविष्य में फिर कुछ ऐसा कार्य अवश्य हो जायेगा जिससे वह प्रशंसा आलोचना बन जायेगी और स्वयं के लिए वह कार्य घातक हो जाएंगे।

जीवन के लिए किए गए समस्त कार्य ईश्वर इच्छा से ही होते हैं।

जंगलों में विभिन्न प्रकार के असंख्य जीव–जन्तु, समुद्र के असंख्य जीव–जन्तु एवं पक्षी बहुत अल्प सी बुद्धि के होते हुए भी अपनी देख–रेख, खान–पान, रहन–सहन का प्रबन्ध कर लेते हैं, तो यदि हम मानव–कोटि में आकर भी इतनी विलक्षण बुद्धि का प्रयोग इसीलिए करें, उन्हीं कार्यों के लिए करें, उसी जीवन निर्वाह के लिए करें, जिसके लिए जानवरों को अल्प बुद्धि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती, तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? लेकिन जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, कुछ महामानव, जिज्ञासु एव मुमुक्षु अपनी बुद्धि का प्रयोग **"जीवन के लिए"** कार्यों में नहीं बल्कि **"जीवन काहे के लिए"** मिला है, इस दिशा में करते हैं, कि ईश्वर ने हमको मानव–कोटि में क्यों डाला है? यह उत्कृष्ट बुद्धि और अन्य शक्तियाँ क्यों दी गई हैं? क्या हम जानवरों की तरह व जीव–जन्तुओं की तरह जीवन बिताएँ? इसके लिए तो ज्यादा बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं थी। जब इस पर विचार होता है, तो हम पाते हैं ईश्वर ने कुछ विशेष रचनाओं व विशेष क्रीड़ाओं के लिए मानव का निर्माण किया है, ताकि वह इस विशेष बुद्धि द्वारा ईश्वरीय शक्तियों की सराहना करे और इस संसार में आकर आनन्दमय जीवन बिताये।

ईश्वर ने जब परम विलक्षण बुद्धि मानव को सौंपी, तो उसे मालूम था कि बोधता आते ही यह इस बुद्धि का दुरुपयोग कर सकता है, तो उसने सुरक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति में एक दिव्य व्यक्तित्व अवश्य दिया है, जिसका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। यदि हम ईश्वर कृपा द्वारा उस दिव्य व्यक्तित्व को जागृत कर लें और उसके द्वारा ईश्वर से सम्पर्क करें, तो हमको अपनी त्रुटियों का आभास हो जाता है और हम जीवन को पुनः विलक्षण बनाकर उसका अत्याधिक सदुपयोग कर सकते हैं, जो हमारे लिए और समाज के लिए अति आनन्दमय होता है। जब हम प्रतिदिन कुछ समय लगाकर अपने दिव्य व्यक्तित्व को जागृत करने का प्रयत्न करते हैं, तो हमको निरन्तर अपने जीवन की सार्थकता का आभास होने लगता है, कि यह जीवन क्यों मिला है? जैसा मैं अपने तीनों विचारों में कह चुका हूँ, कि हम इस पृथ्वी पर लाए गयें है, उसका क्या कारण रहा होगा ? इस बात का उत्तर हमको केवल अपने दिव्य व्यक्तित्व की जागृति और उसकी जागृति के बाद ईश्वर से सम्पर्क करने पर उसकी सान्निध्यता में व उसकी उपासना करने से कभी न कभी अवश्य मिल जाएगा।

मान लीजिए हमको उत्तर न भी मिले, तो भी उसको पाने के सतत् प्रयास के दौरान जो कार्य होते हैं, वे सब ईश्वर निमित्त होते हैं, ईश्वर इच्छा से होते हैं व ईश्वर की शक्ति से होते हैं। ऐसा, महामानव मानकर चलते हैं। तो कोई भी कर्म उनके बन्धन का हेतु नहीं बनते। प्रत्येक कर्म उनको दिव्यता की ओर ले जाता है। वे स्वतंत्र हो जाते हैं और मोक्ष पद के अधिकारी हो जाते हैं। कर्म बंधन से विमुक्त हो जाते हैं। तो जीवन उनके लिए मात्र एक लीला होती है, आनन्दमय लीला। जो आनन्द में शुरू होती है, आनन्द से चलती है और आनन्द में ही समाप्त होती है।

.जैसा कि मैं वर्णन कर चुका हूँ जीवन कभी समाप्त नहीं होता। एक अविरल धारा है जीवन, जिसमें जन्म एवं मृत्यु, मात्र पड़ाव से हैं। शायद मानव को राह दिखाने के लिए कि वे अपना समय निरर्थक वस्तुओं को एकत्रित करने में न गवांये क्योंकि प्रत्येक मृत्यु के पड़ाव के बाद उसकी समस्त भौतक प्राप्तियाँ नगण्य हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं। जो अविरल इसके साथ चलता है, वह है **आध्यात्मिक ज्ञान**, जिसे उपार्जन करने के लिए कोई अपना समय नहीं लगाना चाहता। जब मानव उस ईश्वर द्वारा दिए गए इस काल महासागर पर अपना अधिकार जमा लेता है, कि यह मेरा समय है, तो वह दूसरा भयानक अपराध है। समय का, जीवन के प्रत्येक क्षण का व प्रत्येक पल का नियंत्रण ईश्वर के अधीन है। हमारा अगला आने वाला श्वास भी तो हमारे बस में नहीं है और यदि ऐसा है, तो हम जीवन की बड़ी–बड़ी योजनायें बनाने वाले कौन होते हैं? न केवल अपने लिए बल्कि आगे आने वाली कई पीढ़ियों के लिए हम कार्य करना चाहते हैं। न जाने अगले क्षण कैसा स्वप्न आए? तो मृत्यु का एक पड़ाव जो जीवन धारा में आता है, वह शायद यही दिग्दर्शित करने के लिए आता है कि, 'हे मूर्ख! तू सारा जीवनकाल निरर्थक भौतिक वस्तुओं की उपलब्धियों एवं प्राप्ति करने में न लगा, बल्कि उसी समय को ईश्वर के ध्यान, चिंतन, मनन, उसकी सराहना में और नाम–जाप में लगा। तो यदि विशेष इष्ट कृपा से हम इस निर्देश का अनुसरण करने लगते हैं, तो भी हमें वस्तुओं की प्राप्ति होती है, न केवल प्राप्ति बल्कि उनके आनन्दमय भोग की निश्चितता होती है। जन्म दर जन्म हमें विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। प्रत्येक जन्म आनन्दमय बीतने लगता है।

यदि हम बुद्धि का सदुपयोग अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार ईश्वर की सराहना एवं प्रशंसा में करें, तो शायद ईश्वर ने जिस कार्य के लिए हमें ये बुद्धि दी थी, वह कार्य सार्थक हो जाता है। ईश्वर प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसे मानव विलक्षण प्रतिभाओं व उत्कृष्ट मस्तिष्क शक्ति से ओत–प्रोत होते हैं। वे युग पुरुष होते हैं और युग–युगान्तरों में उनका मान व यश फैल जाता है। उनके कृत्यों की प्रशंसा होती है। वे मात्र लीला के लिए इस संसार में आते हैं। उनका जीवन विलक्षण होता है। अन्य लोगों से वे बहुत हटकर होते हैं। वे सबके लिए होते हैं। परोपकार भाव से ओत–प्रोत होते हैं। मानो वे पूरे विश्व को अपने ह्रदय में समेट लेना चाहते हों। वे उदार प्रवृति के होते हैं। ऐसे संत, मानव कल्याण के लिए आते हैं। उनके श्वास, उनकी प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक क्रिया जाने–अनजाने में भी न केवल मानव जाति का बल्कि सम्पूर्ण जीव–जन्तु, जगत का कल्याण करती है। वे ईश्वरीय होते हैं। उनका प्रत्येक कार्य, उनके जीवन का प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण और प्रत्येक प्राणगति ईश्वरमय होती है। प्रभु ऐसे महामानवों से स्वतः ही बहुत उत्कृष्ट कार्य करवा लेते हैं। ऐसे कार्य जो मानव जाति के लिए युग–युगान्तरों तक सार्थक होते हैं, अनुकरणीय होते हैं। परन्तु ऐसे महामानवों को अपने द्वारा कराये गए उन कार्यों का तनिक भी अभिमान नहीं होता। वे अति विनय होते हैं, सुशील होते हैं, मानो वे स्वयं कुछ भी करने के योग्य न हो। ऐसे महामानवों के ऐसे ही लक्षण होते हैं।

दूसरी ओर, जब प्रभु किसी को विलक्षण बुद्धि देते हैं तो अज्ञानवश अपनी बुद्धि के अहम् में किसी कार्य की सम्पन्नता के साथ वे अभिमान से युक्त हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वयं तो अभिमान के कारण तनाव और अन्य दोषों से युक्त होते ही हैं, बल्कि उनके सान्निध्य में रहने वाले लोग भी उनसे बहुत पीड़ित हो जाते हैं। अभिमान–युक्त ऐसे व्यक्ति जहाँ रहते हैं, वहाँ का वातावरण बोझिल हो जाता है। वे तमोगुण और रजोगुण से ग्रसित होते हैं।

सभी कृत्यों में, जीवन की समस्त विधाओं में, जन्म से मृत्यु तक जो–जो भी होता है, सभी कार्यों को हम ईश्वर के ही निमित्त करते जाए कि, ' प्रभु! सब कुछ आप ही करवा रहे हैं, सब कुछ आप ही की इच्छा से हो रहा है। इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल आप स्वयं ही है।" तो इस भाव से उन कार्यों की जो फल प्राप्ति होती

है, वह अति आनन्दमय होती है। ऐसे महामानवों का सम्पूर्ण जीवन अति आनन्दमय ही बीतता है। इतना आनन्द में बीतता है, कि वे समय के बंधनों से विमुक्त हो जाते हैं। काल–बंधन उनको नहीं भासता। जन्म और मृत्यु में, खोने और पाने में, मिलने और बिछुड़ने में ऐसे महामानवों को कोई भेद नहीं रहता। लाभ में, हानि में, उनको कोई चिन्ता नहीं होती। वे समभाव में, अविरल मुदिता और प्रसन्नता में जीवन बिताते हैं–

उदित सूर्य जेहि भाँति, अथवत् ताहि भांति।

जिस प्रकार कि सूर्य उदय होने और अस्त होने के समय एक ही रूप में रहता है। जैसा कि महाकाल की विधाओं के बारे में वर्णन चल रहा है, तो महाकाल एक सागर है, एक अथाह, असीम सागर, जिसकी आजतक कोई गहराई नहीं माप सका। जब हम जीव–कोटि में आते है तो जन्म–जन्मातरों के संस्कारों वश, अज्ञानवश, मायावश एक अविरल जीवन धारा को, जो अनादि है, अनन्त है, अपनी अज्ञानता एवं तुच्छ बुद्धि की शक्ति के बस होकर, जन्म–मृत्यु के दो काल्पनिक किनारों में बाँध लेते हैं। न केवल हम उस महाकाल सागर को एक छोटे से काल बधन में बाँधते हैं, बल्कि उसकी गणना भी शुरू कर देते हैं, वर्षों में, महीनों में, सप्ताहों में, दिनों में और फिर घन्टों में मिनटों में सेकण्डों इत्यादि में। उस गणना के अनुसार, हम अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं का मापदण्ड करते हैं। यह समस्त दृष्टिकोण हमारी जीव बुद्धि और हमारे भौतिक जगत से ही सम्बन्ध रखता है। भला विचारिए, कि जब तक मानव शिशु अबोध रहता है, तो उसकी अबोधता में जो काल, जो समय बीतता है, वह उस शिशु के लिए गणनातीत होता है। तो क्या हम इसको समय की व्यर्थता कहेंगें? इसके अतिरिक्त जितना पशु जगत है व जीव–जन्तु हैं, इनकी अल्प बुद्धि भी समय की गणना नहीं कर सकती।

यहाँ एक विचारणीय बात जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ, वह यह कि हमारी बुद्धि ही काल की गणना करती है। जैसा कि मैं अभी वर्णन कर चुका हूँ, कि अबोधता में काल की गणना नहीं होती और जिस समय बुद्धि विवेकमयी हो जाती है, दिव्य हो जाती है, ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वास्तविकता और सत्य का आभास हो जाता है, उस समय भी काल की गणना नहीं होती है। जिस प्रकार कि एक छोटा सा पानी का

गिलास, जिसमें भरे हुए पानी की मात्रा की गणना होती है, यदि उसको समुद्र में डुबो दिया जाए, तो भी उसके आयतन में, कोई कमी या वृद्धि नहीं होती, परन्तु कोई उसके जल की गणना नहीं करता, क्योंकि वह अथाह सागर में हिलोरें लेने लगता है। इसी प्रकार **जब जीव अपना अज्ञान छोड़ कर, उस ईश्वर रूपी महासागर में मिल जाता है, उसकी समीपता में चला जाता है, तो काल की गणना समाप्त हो जाती है।** ईश्वर महाकालेश्वर हैं। वह काल का अर्थात् समय का ईश्वर है। समय उसके अधीन है। जबकि हम जीव–कोटि में आकर स्वयं काल के अधीन हो जाते हैं और काल के अधीन करने वाली हमारी बुद्धि है, जो विवेक रहित होती है। लेकिन सत्संग द्वारा, गुरु कृपा, इष्ट कृपा व आत्म कृपा द्वारा जब वास्तविकता का आभास होता है, तो बुद्धि विवेकमयी हो जाती है और पुनः हम उस महाकाल सागर में सम्पर्क स्थापित कर लेते है, जो टूटा सा होता है। हम पुनः अपनी उस वास्तविक महाकालेश्वर स्थिति में प्रवेश कर जाते हैं, तो काल की गणना समाप्त हो जाती है। जीवन की अविरलता का हमको आभास होने लगता है। जन्म और मृत्यु के दोनों छोर हट जाते है।

ज़रा विचार कीजिए, कि समस्त दिन हम कुछ न कुछ कार्य करते रहते हैं, कभी शारीरिक कभी बौद्धिक कभी मानसिक। तो उसके बाद निद्रा का एक पड़ाव आता है और हम सो जाते हैं। उस सुषुप्त अवस्था में जैसे कि मैं अभी वर्णन कर चुका हूँ, काल की कोई गणना नहीं होती। जागृति के बाद हमको मालूम चलता है, कि हम कितने घण्टे सोए? और जागृति के बाद पुनः वही दिनचर्या या उससे मिलती जुलती दिनचर्या शुरु हो जाती है। इसी प्रकार जीवन बीतने लगता है। यदि हम निद्रा पर अति गहन अध्ययन करें, कि आखिर इस निद्रा की आवश्यकता क्यों पड़ती है? इस निद्रा को बनाने के पीछे ईश्वर का क्या अर्थ रहा होगा? अक्सर हम कहते हैं, कि थकावट के पश्चात् निद्रा आवश्यक है। हमारे हृदय की संरचना इस प्रकार की गई है, कि आजीवन हृदय काम करता रहता है, थकता नहीं है। क्या इसी प्रकार हमारी अन्य देह की रचना प्रभु नहीं कर सकते थे? निरंतर काम करती रहती और थकती ही नहीं। लेकिन ऐसा प्रभु ने चाहा नहीं। यदि हम विवेक बुद्धि से विचार करें, तो इसका रहस्य हमको मालूम चल जायेगा, कि मानव अधिकतर अपनी बुद्धि का

दुरुपयोग ही करते हैं। होश सम्भालने के बाद अक्सर प्रत्येक मानव, स्वयं को ब्रह्मा, विष्णु और महेश समझ कर, ऐसा मान लेता है, कि मानो वह अपने जीवन को स्वयं ही चलाने वाला हो। स्वयं को स्वयं ही बनाने वाला हो।

एक शब्द आज के जगत में बहुत प्रचलित है कि अमुक–अमुक व्यक्ति self made है। तो यह शब्द मात्र भौतिक बुद्धि की अवधारणा का ही द्योतक है, इसमें आध्यात्मिकता का या सत्य का कहीं भी दूर या समीप का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार रात्रि में निद्रा आती है और उस निद्रा अवस्था में हम अपनी देह और अपनी समस्त दुनिया को भूल जाते हैं। वहाँ हमारा कोई नामरूप या पद नहीं होता और न ही वहाँ काल की गणना होती है। जो–जो भौतिक प्राप्तियाँ हैं, जैसे ही हम निद्रा से जागृत अवस्था में आते हैं, तो लगभग वो सभी प्राप्तियाँ पुनः हमको प्राप्त हो जाती हैं। उनको प्राप्त करने के लिए हमको कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

यहाँ भौतिक प्राप्तियों का मैं और अधिक स्पष्टीकरण करना चाहूंगा। भौतिक प्राप्तियों में, मानव की स्वयं की देह, उसकी सम्पदा, उसका धन, स्त्री, संतान, उसकी शिक्षा, पदवी इत्यादि–इत्यादि यह सब वस्तुएं आ जाती हैं। सोने के बाद जब मानव जागृत होता है, तो वे ही भौतिक प्राप्तियाँ, जो पिछले दिन रात्रि को सोते समय थीं, पुनः उसकी होती ही हैं। यदि अज्ञानवश वह उन्हीं वस्तुओं को प्राप्त करने का पुनः प्रयल करने लगे, तो ऐसे मानव को अवश्य मानसिक रूप से असंतुलित घोषित कर दिया जाता है।

सत्य पूछिए, मृत्यु भी, जीवन–धारा में आने वाला एक पड़ाव है। हम अपनी देह से पूर्ण विश्राम चाहते हैं। इस देह का परिवर्तन चाहते हैं। ऐसी मानसिक स्थिति में मृत्यु का आगमन होता है, तो वह एक चिर–निद्रा है, जीवन धारा में आने वाला एक पड़ाव है और उस पड़ाव के बाद, विशेष ईश्वरीय रहस्यों का विमोचन करना एक मानव बुद्धि की समर्थ के बाहर है। उन रहस्यों की वजह से, मानव देह एक नया रूप ले लेती है। उसको एक नया नाम दे दिया जाता है जिसको हम कहते हैं–अगला **जन्म, पुनर्जन्म**। वास्तव में यह अगला जन्म इस अविरल जीवन धारा का एक अगला दिन है, जिसमें मानव देह का नवीनीकरण होता है। सबसे बड़ा रहस्य तो यह है कि जो–जो भौतिक प्राप्तियाँ यह छोड़कर आया था, वे इसके पास ही होती हैं।

उचिततम् समय पर उसके सम्मुख स्वतः ही प्रकट होने लगती हैं। उनके उपलब्ध होने के लिए विशेष प्रकार की परिस्थितियाँ स्वयं बन जाती हैं। स्वयं ही इसको एक विशेष प्रकार की शिक्षा भी मिल जाती है और उसी प्रकार का बाह्य वातावरण मिल जाता है। इस विषय को मैं **'प्राप्य की प्राप्ति'** अध्याय में विस्तार में वर्णित कर चुका हूँ। यही पर भौतिक प्राप्तियों के बारे में एक विशेष रहस्य जो मैं आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ, वह यह है कि भले ही बाह्य जगत में हमारे पास कोई भी भौतिक प्राप्ति कितनी भी नगण्य हो अथवा बहुत कम हो, लेकिन भीतरी जगत में जिसके आनन्द पूर्वक भोग की जितनी अधिकतम क्षमता हम रखते हैं, उतनी मात्रा में उस वस्तु का प्राप्ति हमारे अधिकार में होनी है। बहुत सूक्ष्म विषय है।

यह हमारे प्रतिदिन के अनुभव की बातें हैं, कि आनन्द पूर्वक जो समय बीतता है, वह गणनातीत होता है। **उस स्थिति को कहा है—अकाल स्थिति। उसमें विशेष उल्लेखनीय बात यह है, कि उसका अन्त भी आनन्द में ही होना चाहिए।** उदाहरण के लिए जैसे कुछ लोग शराब इत्यादि कई प्रकार के नशे करने लगते हैं, तो नशे के दौरान उनको समय का भास नहीं रहता। लेकिन जब नशा टूटता है, तो अक्सर वो बहुत ग्लानि की स्थिति में उतर जाते हैं। उनका वर्तमान भूत एव भविष्य तीनों ही प्रदूषित हो जाते हैं। ऐसा काल यद्यपि उस नशे के दौरान गणना से परे बीतता है, लेकिन अंत ग्लानि में बीतने के कारण उसको हम दैवीय नहीं कहेंगे, बल्कि आसुरी कहें, तो अधिक उपयुक्त रहेगा। **वास्तव में ईश्वरीय सत्ता, हमारा वही कारण शरीर, स्वयं खेलने के लिए सूक्ष्म शरीर में प्रवेश होता है, जिसमें करोड़ों ब्रह्माण्ड अंकित होते हैं। इस समस्त सूक्ष्म देह का केन्द्र मूल शरीर है।** वा**स्तव में कारण से लेकर स्थूल शरीर तक मात्र एक ईश्वरीय लीला है।** लेकिन मायावश और अज्ञानवश जीव अपना अलग अस्तित्व मान लेता है और यहाँ से शुरू होती है सुखों और दुखों की श्रृंखला और यहीं से यह अपने आनन्द स्वरूप से वंचित हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह ईश्वरीय सत्ता जीव—कोटि में क्यों आती है?

उसका मैं उदाहरण देकर आपके समुख स्पष्टीकरण करूँगा, कि जिस प्रकार किसी विशाल देश का सम्राट अपना भेष बदल कर, एक मज़दूर बन कर मज़दूरी

करने लगे, तो उसने वास्तव में वह भेष बदला अपने आनन्द के लिए। लेकिन दुर्भाग्यवश जब वह भेष बदलने के बाद स्वयं को, वास्तव में मज़दूर ही समझने लगे तो वहीं पर वह कक्षों में पड़ जाता है। दूसरा उदाहरण, किसी नाटक में कार्य करने वाले विभिन्न कलाकार जिनको विभिन्न प्रकार के रोल दे दिए जाते हैं, स्वयं के तथा लोगों के मनोरंजन के लिए। लेकिन कभी–कभी दुर्भाग्यवश वह उस रोल को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ लें, तो वहीं से सुखों और दु खों की श्रृंखला शुरु हो जाती है। इसी प्रकार वह सच्चिदानन्द स्वरूप, ईश्वरीय सत्ता, जीव–कोटि में मात्र लीला करने के लिए आयी थी लेकिन उस लीला को करते–करते मायावश वह जीव अपना वास्तविक स्वरूप वही समझने लगता है और वहीं से वह विभिन्न प्रकार के कष्टों से घिर जाता है।

जब कभी इसको अपने वास्तविक स्वरूप की झलक आती है, भक्ति द्वारा, ज्ञान द्वारा, तो इसको अपनी बाहरी भूल का अहसास होता है, उसी प्रकार जैसे कि किसी मज़दूर को अपने राजा होने का आभास हो जाये। सही पहचान हो जाये, तो कष्ट में बीता हुआ सारा समय तुरन्त आनन्द में परिवर्तित हो जाता है, कि वाह। बहुत सुन्दर लीला की और प्रत्येक कष्टमय समय उसको आनन्दमय समय लगने लगता है। उसी समय जब इसको विवेक हो जाता है, इसको सत्य का भास हो जाता है, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की झलक आ जाती है, तो इसका अतीत, इसका वर्तमान एवं भविष्य मात्र, एक अति आनन्दपूर्वक वर्तमान में बदल जाता है।

आज सारा संसार दौड़ रहा है। हम किसी से पूछें कि तुम क्यों दौड़ रहे हो? उत्तर मिलता है 'क्योंकि सभी दौड़ रहे हैं।' एक भेड़ चाल है। जो चले जा रहें हैं सब। तो भेड़ चाल क्यों मशहूर है? एक भेड़, दूसरी भेड़ का अनुसरण करती है और आगे की भेड़ यदि खड्डे में गिरती है, तो उसका अनुसरण करने वाली भेड़ जानबूझ कर उसी खड्डे में अवश्य गिरती है। इस भेड़ चाल से, हमको ज्ञान दृष्टि द्वारा बचना होगा। हमारी चाल सिहों की चाल की तरह होनी चाहिए। हम ईश्वर की संतान है। उस सच्चिदानन्द परमात्मा की। हम स्वयं में सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। हमको स्वयं को पहचानना है। हम उस महाकाल सागर को अति सूक्ष्म काल चक्र से, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है, उसको बार–बार अस्तित्व देकर जन्म–जन्मान्तरों

से उस काल चक्र को, महाकाल चक्र घोषित कर देते हैं। एक चक्रव्यूह बन जाता है हमारा जीवन। जिसमें हम मकड़ी के जाल की तरह फँस जाते हैं। कभी बाहर निकलना चाहें भी, तो निकल नहीं पाते। इतना कठिन जाल है यह। इस जाल को काटने के लिए मकड़ी स्वयं एक तरफ से इसको खाना शुरू कर देती है। हमको भी यह जाल सा, यह उलझन सी जो अनन्त जन्मों से हमको बाँधे हुए हैं, हमको फँसाए हुए हैं, हमको स्वयं ही इसको खाना पड़ेगा!

हम जन्म–जन्मान्तरों से स्वतंत्र हैं। हम खुले हुए हैं। खुदा खुला हुआ है। बन्दा बंधा हुआ है। हम ऐसे खुदा की संतान है। स्वतंत्र, पूर्ण स्वतंत्र। एक में अनेक और अनेक में एक। कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों में समस्त हमारा ही स्वरूप है। उस स्वरूप में अद्वैत में द्वैत और द्वैत में अद्वैत का दिग्दर्शन करते हुए, उस परम सत्य की प्राप्ति के लिए, वास्तविक पुरुषार्थ करते हुए, सत्संग द्वारा, संतों की कृपा से एवं आत्म–कृपा से हम अपने स्वरूप को पहचाने। वास्तविकता तो यह है कि जब आवरण हट जाता है, जब हमें अपने उस अति दैदीप्यमान, अति प्रकाशित एव आनन्द से ओत–प्रोत स्वरूप की एक झलक मात्र मिल जाती है, तो उसी समय जन्म–जन्मातरों से पड़ा हुआ हमारी बुद्धि का आवरण हट जाता है। मलविक्षेप दूर हो जाते हैं और आवरण जब एक बार हट जाता है, तो पुनः नहीं पड़ता। एक बार जब हमें उस भव्यतम्, दिव्यतम्, अनुपमतम्, अति विहंगम एवं उत्कृष्ट और अति आनन्दमय स्वरूप की झलक मिल जाती है, तो हम आनन्द विभोर हो जाते हैं–

क्या–क्या बताऊँ मैं, तेरे मिलने से क्या क्या मिला
मुद्दत मिली, मुराद मिली मुद्दा मिला,
सब कुछ मुझे मिला, जो तेरा नक्शे–पाँ मिला।

वाणी शान्त हो जाती है, ऑखें पथरा जाती हैं, हृदय की गतियाँ मानो रुकने सी लगती हैं, इतना आनन्दमय स्वरूप है हमारा स्वयं का।

।। जय जय श्री राम।।

गर्भ एवं बाल्यकाल

अति गहन विचार करने से यह ज्ञात हुआ कि **ईश्वर सत्ता** स्वयं ही धरा पर जीव–कोटि में आती है, एक से अनेक होती है। असंख्य नाम असंख्य रूप, एक रूप असंख्य नाम एक नाम असंख्य रूपों में विचरण करती है और उसी में लय हो जाती है। प्रारम्भ आनन्द में, मध्य आनन्द में और अन्त आनन्द में। सर्वोत्कृष्ट जीव इस धरा पर है **मानव**, और मानव को मिली है उत्कृष्ट बुद्धि और बुद्धि का कार्य, मात्र इस सम्पूर्ण ईश्वरीय लीला का दिग्दर्शन, उस पर विचार और प्रत्येक लीला के पीछे चमत्कारिक भावों का समझना और ईश्वर की प्रशंसा करना है।

जब मानव परिवार में, समाज में, विभिन्न समूहों में व देशों आदि में विभक्त हुआ, तो उसके पीछे कुछ न कुछ कारण अवश्य रहा होगा। सभ्य मानव समाज में विवाह की प्रथा अति प्राचीन है। यदि सूक्ष्म रूप से विचार करें, कि इस विवाह का अर्थ क्या है? क्या मात्र संतान उत्पन्न करना है? संतान तो पशु–पक्षियों में भी उत्पन्न होती है, लेकिन उनमें तो विवाह की आवश्यकता नहीं होती। सच पूछिए, तो यह आवश्यकता मानव–कोटि में भी नहीं है। तो सभ्य समाज ने इस विवाह की आवश्यकता क्यों, समझी? जैसे कि **प्रत्येक जीवधारी में एक अन्तर्निहित इच्छा रहती है, कि इसका कुल आगे चले और कुल की वैधता हो अर्थात् उस संतान के घोषित माता एवं पिता हों और दूसरा मानव जाति, स्त्री एवं पुरुष उच्छृखलता से बच सके।** स्वच्छंदता और उच्छृखंलता में अन्तर है, इसका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ।

विवाह प्रत्येक जाति में प्रत्येक धर्म में एक धार्मिक प्रकरण है। स्त्री एवं पुरुष परस्पर किन्हीं विशेष धार्मिक कृत्यों के अन्तर्गत स्वयं को पत्नी एवं पति मान लेते हैं। उसके बाद विवाहिक जीवन शुरु होता है। एक दूसरे के प्रति समर्पित भाव और विशेष प्रकार की रति क्रीड़ाएं कभी न कभी गर्भ धारण का कारण बनती हैं और गर्भ माता के पेट में लगभग 9 महीने तक पलता है और मानव, शिशु के रूप में इस धरा पर पदार्पण करता है। उसका लालन–पालन, माता–पिता की सामर्थ्य, श्रद्धा एवं प्रेम के अनुसार शुरु हो जाता है। वह बालक क्रमशः बढ़ता रहता है। फिर होश सम्भालते वह कुछ विशेष प्रकार की विद्याओं को ग्रहण करता है। बड़ा होता है, युवा

होता है। धन–अर्जन के लिए कुछ न कुछ कारोबार, व्यापार करता है। फिर वही बालक युवा होकर स्वयं अपने माता–पिता की तरह ही विवाह बंधन में बंधता है फिर वैसा सा ही प्रकरण आगे चलने लगता है!

जैसा कि हम वर्णन कर चुके हैं, कि **स्वयं ईश्वरीय सत्ता जीव–कोटि में एक से अनेक होकर आनन्द में, आनन्द से, आनन्द तक विचरने के लिए उतरती है**। लेकिन दुर्भाग्य! मानव जब इस महाशक्ति बुद्धि का दुरुपयोग करता है तो वह स्वयंभू ईश्वर सा बन जाता है, जबकि उसके हाथ में कुछ भी नहीं होता। जब मानव शिशु बड़ा होने लगता है, तो माता–पिता के अहम् की श्रृंखलायें शुरू हो जाती हैं, कि इस शिशु का हमने पालन–पोषण करना है, विशेष दिशाएं देनी है, अमुक–अमुक विद्याओं के लिए इसको तैयार करना है, अमुक–अमुक जीवन–धाराएं निर्मित करनी है और न जाने अपनी भौतिक सामर्थ्य को लेकर माता–पिता क्या–क्या कल्पनायें करने लगते हैं? न मात्र कल्पनायें, बल्कि उनको साकार रूप देने के लिए न जाने क्या–क्या साधन जुटाने में तत्पर हो जाते हैं। यहीं से शुरू होती है दुखों व कष्टों की श्रृंखला।

यदि विचार करें, कि क्यों एक विशेष समय पर एक विशेष घड़ी में व कुछ विशेष ग्रहों और नक्षत्रों में वह जीव गर्भ में आया? इसका उत्तर ढूँढने में मानव बुद्धि अवश्य हार जाएगी। कई माता–पिता जब किसी भौतिक कारण से संतान नहीं चाहते, तो गर्भ में आए हुए शिशु का विनाश करने के लिए उतारू हो जाते हैं। वे विभिन्न प्रकार के प्रचलित कृत्रिम साधनों द्वारा इस गर्भ को नष्ट करवा देते हैं। जिसे कहा है **गर्भपात करवाना**। यदि विचार किया जाए, कि जिस गर्भ को माता–पिता ने नष्ट करवा दिया तो उसे ईश्वर इच्छा से नष्ट होना ही था। परंतु यहाँ भूल यह हुई कि माता–पिता ने उस पर स्वयं की मोहर लगा दी, कि यह शिशु जो गर्भ में आया है, हमको नहीं चाहिए। इसको हम स्वेच्छा से नष्ट कर रहे हैं। मात्र, ईश्वरीय कृत्य पर अपने अहम् की जब मोहर लगती है, तो वह एक अपराध हो जाता है।

जो माता–पिता स्वेच्छा से गर्भ को नष्ट करवाते हैं, उसका प्रतिफल क्या होता है? चिकित्सिक होने के नाते ऐसी सैकड़ों माताओं का जब मैंने अध्ययन किया, तो पाया कि वे किसी न किसी प्रकार के भौतिक, दैहिक अथवा मानसिक कष्ट में

चिरस्थायी रूप से ग्रसित हो जातीं हैं। मैंने कोई भी ऐसी माता शारीरिक या मानसिक रूप से स्वस्थ नहीं देखी, जिसने अपना गर्भ गिरवाया हो। यह तो एक जगत विदित अनुभव आपके सम्मुख रख रहा हूँ। इसका जो विशेष विचारणीय तथ्य है, वह यह कि **जब माता–पिता यह घोर कुकृत्य करते हैं, तो ऐसे दम्पति को कभी भी अपने जीवन में संतान का सुख नहीं मिलता। इसलिए गर्भ में आये शिशु को गिराने का घोर अपराध कभी भी नहीं करना चाहिए। यह एक ईश्वरीय कृत्य है।** यदि स्वतः हो जाए, तो उसमें किसी का दोष नहीं है। उसके पीछे ईश्वर लीला क्या है? उसको स्वयं ईश्वर ही जानते हैं। यद्यपि कुछ देशों में गर्भपात को वैध कर दिया गया है, लेकिन ईश्वर की दृष्टि में यह वैध नहीं है। इसकी घोर सज़ा अवश्य मिलती है। कोई भी उससे बच नहीं सकता।

दूसरा, मान लीजिए, किसी दम्पति की पुत्र की इच्छा है और आज के वैज्ञानिक युग में कई प्रकार के ऐसे साधन हैं, जिससे गर्भ में शिशु के लिंग का पता चल जाता है, कि यह लड़की है या लड़का। मान लीजिए गर्भ में लड़की है, तो वह उस गर्भ को गिराने की सोचने लगते हैं और कई इस जघन्य अपराध को कर भी लेते हैं। यदि वे किसी कारण–वश उसको गिरवाते नहीं है, लेकिन माँ को अपने गर्भ में उस बालिका के पदार्पण के साथ जब एक मानसिक घृणा हो जाती है, कि मेरे गर्भ में बालिका क्यों आई बालक आना चाहिए था। तो ऐसी बालिका जब उत्पन्न होगी, तो यह निश्चित मान लीजिए कि वह बालिका अपने माता–पिता के लिए या दोनों में उसके लिए जिसने इस गर्भ को घृणा की दृष्टि से देखा है, अति घातक अन्यथा अति कष्टदायी अवश्य बन जाएगी। अतः जब ईश्वर इच्छा से लड़का अथवा लड़की किसी प्रकार का भी मानव शिशु गर्भ में हो, तो उससे घृणा करने का किसी भी दम्पति को कोई अधिकार नहीं है। उनको मात्र ईश्वर की प्रशंसा ही करना उचित है। क्योंकि न जाने ईश्वर ने उनको क्या उपहार देना है। लेकिन जब वह अपनी बुद्धिवश या किसी अन्य कारणों से उस गर्भ से घृणा करते हैं, तो वह संतान उत्पन्न होने के बाद उस घृणा करने वाले से घृणा करेगी और उसके लिए अति घातक सिद्ध हो जाएगी।

यहाँ तक, कि ऐसा अनेकों बार देखा गया है, कि माता और पिता जिसने भी उस गर्भ के शिशु से घृणा की है, वही उसकी मृत्यु तक का कारण बन जाता है। इस

बात पर विशेष गौर और विचार करना अति आवश्यक है। विवाह के बाद जब भी गर्भ–धारण हो, तो उसको गिराने की, सोचने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक शिशु अपना भाग्य स्वयं लेकर आता है। यह कोई निम्न कोटि के विचार नहीं हैं। यह मैं ईश्वरीय नियमों का वर्णन कर रहा हूँ। हाँ ! उस गर्भ धारण को रोकने के कुछ उपाय यदि कर लिए जाएं, यद्यपि वे उपाय भी आवश्यक नहीं है, यदि संयमित जीवन बिताया जाए। ईश्वरीय कृत्यों को और ईश्वरीय चमत्कारों को हम भूल जाते हैं।

एक विशेष घड़ी में गर्भ धारण क्यों हुआ? कब, उसने इस पृथ्वी पर आना है? क्या–क्या विशेष प्रतिभाओं से सम्पन्न होकर उसने यहाँ उतरना है? ईश्वर ने इसे क्यों रचा है? कहाँ–कहाँ उसका विचरण होगा? क्या–क्या उसने खेल खेलने हैं इस धरा पर आकर? यह पहले से ही निर्मित हो चुका होता है, जैसा कि "**सुखद परिवार**" नामक अपने एक अध्याय में मैं वर्णित कर चुका हूँ, कि सद्‌दम्पति का, बुद्धिमान एवं विवेकशील माता–पिता का, मात्र इतना कर्त्तव्य है, कि वह अपने नवजात् शिशु को अपनी सामर्थ्य के अनुसार उचिततम् मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक वातावरण दें। उसके लिए अधिक से अधिक सात्विक वातावरण का निर्माण करें। उस पर विचार करें और उसके लिए प्रार्थना करें। उसको धैर्यपूर्वक देखें कि यह मानव शिशु जीवन में किस प्रकार बढ़ रहा है? अधिक से अधिक सात्विक वातावरण उत्पन्न करने से उसकी तामसिक प्रवृतियाँ शान्त हो जाएंगी और सात्विक प्रवृतियों को बढ़ने का, फलने–फूलने का मौका मिलेगा। माता–पिता को यह कोई अधिकार नहीं है कि उस शिशु के भविष्य का निर्माण करने पर विचार भी करें, क्योंकि किसी के हाथ में किसी का भविष्य नहीं है। हम स्वयं विचार करके देखें क्या अगला श्वास हमारे हाथ में है? यदि नहीं है, तो हम किसी भी ईश्वरीय कृति के भविष्य के बारे में सोचने वाले कौन होते हैं?

दुर्भाग्यवश, जितने अधिक बुद्धिजीवी माता–पिता हैं, उनका बच्चा गर्भ में बाद में आता है, उसके भविष्य के बारे में पहले चिन्तित हो जाते हैं। उसकी शिक्षा, विवाह–शादी, उसके जीविकोपार्जन व उसके रहने के बारे में। उसके लिए, भूमि व धन इत्यादि न जाने किन–किन साधनों को एकत्रित करने के लिए वे क्या–क्या कुकृत्य कर बैठते हैं। जबकि होना वही होता है, जो ईश्वर ने रच दिया है। किसी भी

मानव–देह की आधारशिला रखने से पहले ही वह ईश्वरीय सत्ता उसके सम्पूर्ण जीवन का खींचा तैयार कर देती है। उसके समस्त प्रबन्ध स्वयं होते हैं। भौतिक माता–पिता ही अथवा न हों, उसका लालन–पालन होना होता है, तो अवश्य होता है और यदि नहीं होना होता, तो कितने भी समर्थवान और समन माता–पिता हों, उनके शिशुओं का भी लालन–पालन अच्छा नहीं हो सकता। सत्य यही है। इस पर ज्यादा बुद्धि लगाने की आवश्यकता नहीं है।।

तो जैसा कि मैंने बताया गर्भपात करवाने से माता–पिता दोनों में अथवा एक में किसी को आजीवन शारीरिक और मानसिक कष्टों का भोगी बनना पड़ता है। दूसरे उनको कभी भी संतान का सुख नहीं मिल सकता। हम ईश्वर के कृत्यों में कोई भी बाधा डालने के अधिकारी नहीं हैं। मात्र, हमको अपनी बुद्धि द्वारा ईश्वर की लीलाओं को देखना और उनकी प्रशंसा करना है, जिसके लिए इस बुद्धि को दिया गया है। शिशु के गर्भ में आते ही ईश्वर का कोटि–कोटि धन्यवाद देना, उसके लिए प्रार्थना करना, भले ही वह बालक हो अथवा बालिका और उसके उत्पन्न होने के बाद ईश्वर का ध्यान करते हुए उसका पालन–पोषण करना कि, "हे प्रभु। हे कोटि–कोटि बह्माण्डनायक ! आप ही सम्पूर्ण सृष्टि के कर्त्ता–धर्त्ता हैं। हमको आपने माता–पिता होने का श्रेय दिया है। यह आपकी अति कृपा है हमारे ऊपर। एक–एक क्षण जब माता–पिता इस भाव से विचरते हैं, तो वही शिशु महापुरुष बनकर इस पृथ्वी पर आते हैं। इतिहास रचते हैं ऐसे बालक। सदियों–सदियों तक मानव जाति उनका सिमरन करती है, उनको याद करती है।

जब किसी भी मानव शिशु पर माता–पिता अपना अधिकार जमा लेते हैं, उसके सद्‌गुणों को वे अपने द्वारा निर्मित मान लेते हैं और दुर्गुणों पर किसी अन्य को दोषी ठहरा देते हैं, तो ऐसे माता–पिता उस संतान द्वारा ही त्याग दिए जाते हैं। उसके पीछे उनका अहम् और उनकी बुद्धि का दुरुपयोग एवं तुच्छ मानसिकता, यह समस्त कार्य करते हैं। जब मानव शिशु गर्भ में पाँचवें अथवा छठे महीने में होता है, तो माता–पिता होने के नाते आपने अनुभव किया होगा, कि आपके जीवन में और आपके परिवार में कुछ विशेष परिवर्तन अवश्य आते हैं जिसका कारण वह गर्भ में आने वाला शिशु है। यदि आप बहुत गहनता से विचार करें, तो आप इस महापरिवर्तन का

अवश्य आभास कर सकते हैं। वह शिशु अपना वातावरण स्वयं बनाता है। उसके जन्म का समय निश्चित होता है। जन्म के समय जो व्यक्ति वहाँ उपस्थित होगें, वे निश्चित होते हैं और उस समय जो आर्थिक स्थिति, जो देश की स्थिति, जो वातावरण इत्यादि समस्त प्रकरण होते हैं, वे स्वयं ही होते हैं। इस पर किसी मानव बुद्धि का न तो कोई अधिकार होता है और न कोई वश होता है। यह सब विचारणीय विषय हैं। जितने भी ईश्वरीय कृत्य होते हैं, वे स्वतः होते हैं। मैं कई बार इसका उल्लेख कर चुका हूँ, कि यदि हम अपने अतीत पर दृष्टि डालें, जब से हमने होश संभाला है और आज तक जो विशिष्ट जीवन की घटनाएँ हुई हैं, जिन घटनाओं में हमारा जन्म भी आता है, तो हम पाएंगे कि जीवन की विशिष्ट घटनाओं में हमारी बुद्धि की कोई भूमिका नहीं होती।

सम्पूर्ण कोटि–कोटि महाब्रह्माण्ड, ईश्वर की निधि है। यहाँ सब कुछ स्वतः आनन्दमय ही होता है। लेकिन अपनी बुद्धि के दुरुपयोग से हम उस आनन्द में बाधा डाल देते हैं, उसको जटिल बना देते हैं। आनन्द खो जाता है। सुखों की ओर हम भागने लगते हैं और वे समस्त सुख, दुखों में परिवर्तित अवश्य होते हैं, क्योंकि **सुख की परिपूरक विधा है दुख। जहाँ सुख होगा, वहाँ दुख अवश्य होगा। इसको कोई भी नहीं टाल सकता। और जहाँ दुख होगा, वही सुख होगा। परन्तु जहाँ आनन्द होगा, वहाँ आनन्द ही होगा। आनन्द की परिपूरक विधा भी आनन्द ही है।** सत्य की सत्य और चेतन की चेतन। जो घटना हमारी बुद्धि की उपज होती है, वह कभी भी आनन्द में समाप्त नहीं होती, भले ही उसकी सोच हमको क्षणिक आनन्दित कर दे। लेकिन उसका अंत यदि सुख में भी हो, तो वह भी कभी दुख में परिणत अवश्य हो जाएगा। लेकिन यदि वह घटना आनन्द में समाप्त होती है, भले ही उससे कुछ तथाकथित हानि हो जाये, वह आनन्द चिरंजीवी होता है।

प्रत्येक जीवधारी चाहे वह बुद्धि धारण किए हुए है अथवा नहीं, उसका जीवन ईश्वर की ओर से स्वयं नियंत्रित होता है। लेकिन मानव बुद्धि इस स्वतः भाव में अड़चन डाल देती है और मानव अपने लिए कांटे बो देता है। इस महाकाल चक्र में अपनी लय की सत्ता को भूल जाता है कि, "मैं कहाँ से उतरा हूँ, मैं कौन हूँ, मुझे कहाँ

जाना है और मैं यहाँ किसलिए आया हूँ" तो जितने भी धरा पर कष्ट है, कष्टों के विषय में मैं एक विशेष बात कई बार कह चुका हूँ कि कष्ट वे हैं जिसको हम कष्ट मानते हैं। **कष्ट एक व्यक्तिगत अनुभूति है। कष्ट का आकार क्या है, जो हम मान लेते हैं। यह भी व्यक्तिगत धारणा है। कष्ट का आकार और प्रकार हमारी व्यक्तिगत धारणा है। यदि हमारी धारणा में वह कष्ट नहीं है, तो वह कष्ट है ही नहीं, सत्य यही है। इस कष्ट को मान्यता देने वाली है–मानव बुद्धि।**

मानव जीवन में तनाव का यही कारण है, कि उस परम सत्ता ने इस जीव का निर्माण अपनी इच्छा से किया है, ईश्वर इच्छा से हुआ है और होश में आते ही हम जीवन को अपने ढंग से, अपनी इच्छाओं द्वारा चलाना चाहते हैं। लेकिन ईश्वर इच्छा का सामना मानव कहाँ कर सकता है? अगर इसको विवेक उत्पन्न हो जाता, तो यह अपनी तुच्छ सी इच्छाओं को ईश्वर इच्छा में मिला देता और जीवन को आनन्द पूर्वक बिताता। ईश्वर इच्छा मानव के जीवन को कहीं और ले जाना चाहती है और ले जाती है, क्योंकि वह समर्थवान है, सशक्त है और मानव अपने में असहाय है, अशक्त है, असमर्थ है। अपने तुच्छ से बुद्धि बल से वह ईश्वर इच्छा के विपरीत अपने जीवन को खींचना चाहता है और जीवन तनावित हो जाता है। **अन्ततः होता वही है, जो ईश्वर इच्छा होती है। अतः क्यों न ईश्वर के आगे प्रार्थना करके हम अपनी तुच्छ सी इच्छाओं को ईश्वरीय इच्छा में मिला दें! इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल जब स्वयं ईश्वर बन जाते हैं, तो जीवन की एक–एक घटना, एक–एक प्रकरण, एक–एक क्षण, एक–एक पल अति आनन्दमय हो जाते हैं, मानो भौतिक समय ठहर सा जाता है। जीवन अति आनन्दमय हो जाता है।** हमें स्वयं इच्छुक होने की भूल भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि हमारे भीतर **जो शक्ति इच्छुक बनती है, उसको भी ईश्वर कृपा से ही ईश्वर समर्पित कर देना चाहिए। तो यह चारों प्रकरण इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल जब ईश्वरीय हो जाते हैं, तो जीवन की प्रत्येक घटना, प्रत्येक पाना, प्रत्येक खोना अति आनन्दमय हो जाता है।**

बालक जब बड़ा होने लगता है, तो अति बुद्धिमान लेकिन दुर्भाग्यपूर्वक

विचारहीन माता–पिता उसके जीवन को स्वयं अपनी बुद्धि एव सामर्थ्य द्वारा मोड़ देना चाहते हैं। ईश्वर ने रचना कुछ और की है और उसके विपरीत उसको पढ़ाना चाहते हैं। जब वे उसमें सफल नहीं होते तो तनावित हो जाते हैं। उनका दाम्पत्य जीवन खराब हो जाता है। आज 50 प्रतिशत से अधिक मानव दम्पतियों में पाएंगे कि उनके बच्चों के कारण उनका विवाहिक जीवन तनावित रहता है और उसे यदि विचारपूर्वक देखा जाये, तो सबसे बड़ा कारण होता है उस दम्पति का ईश्वरेच्छा को न समझना। जब अपने शिशुओं का भविष्य स्वयं निर्धारित किया जाता है, तो ऐसी स्थिति उसी समय उत्पन्न होती है।

कुछ बालक जन्म से खिलाड़ी, संगीतज्ञ और न जाने किन–किन प्रतिभाओं को लेकर उत्पन्न होते हैं, लेकिन हम उस पर तनिक भी विचार नहीं करते और बालकों का भविष्य खराब कर देते हैं। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि यह भी ईश्वरेच्छा ही थी। उस बालक का जीवन ऐसे ही चलना था और माता–पिता को उस बालक के कारण तनावित रहना ही था। इसमें मेरा अनुभव है कि ईश्वरीय योजनाओं में तनाव, कष्ट, दुख और भय का कोई स्थान नहीं है। ईश्वर सृष्टि स्वतः भाव में होती है, वह किसी के अधीन नहीं होती किसी पर निर्भर नहीं होती एव आनन्दमय होती है।

।। जय जय श्री राम।।

युवावस्था एवं भोग

माँ के गर्भ में लगभग 9 महीने बिता देने के बाद मानव शिशु का जन्म होता है। शिशु अवस्था, बाल्यकाल और फिर विद्यार्थी जीवन समाप्त होता है। जैसी भी जिसने अपनी प्रतिभा के अनुसार अथवा अन्य परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा लेनी होती है, वैसी शिक्षा वह ग्रहण कर लेता है। यह मैं जीवन के साधारण क्रम की बात कर रहा हूँ। उस शिक्षा के बाद लगभग सभी किसी न किसी धनोपार्जन के साधन में जुट जाते हैं। तब समय आता है विवाह का। तो यही मैं भारतीय परम्पराओं का और पद्धतियों का ही मुख्यतः उल्लेख करूँगा। जैसे कि हमारे यही एक परम्परा है, कि माता–पिता अपने युवा बच्चों के विवाह के लिए वर अथवा वधू को ढूँढ़ना प्रारम्भ करते हैं और इसमें सगे–सम्बन्धियों का भी योगदान रहता है।। युवा पुत्र जब धर्नोपार्जन की अच्छी योजनाओं से परिपूरित होता है, सुन्दर होता है और माता–पिता सम्पन्न होते हैं, तो अज्ञानवश, मोहवश एव अहम्वश विवाह के लिए बहुत सी लड़कियाँ देखते हैं, अन्त में कोई न कोई लड़की उनको पसन्द आ जाती है।

इस प्रकरण में कहाँ त्रुटि है? मैं उसका वर्णन कर रहा हूँ, जो मैंने देखा है, सुना है व इष्ट कृपा से अनुभव किया है। यदि कोई लड़का अपने विवाह के लिए बहुत सी लड़कियों को देखता है और उनको पसन्द नहीं करता। तो उसका क्या परिणाम होता है? ऐसे युवा लड़के शत–प्रतिशत निश्चित समझ लें, कि उनका विवाहित जीवन अवश्य अति दुखद होगा। पुरानी परम्परा के अनुसार लड़के–लड़कियों को नहीं देखते थे। कुल पुरोहित या फिर ज्यादा से ज्यादा माता–पिता लड़की पसन्द कर लेते थे। अपनी कुल की मर्यादाओं के अनुसार अपनी जाति–पांति के अनुसार अपने लड़के को बिना दिखाए उस लड़की को हाँ कर देते थे। सम्भवतः वह परम्परा बहुत उचित थी, क्योंकि जब हम एक मानव के रूप में दूसरे मानव को देखकर, उसको न पसन्द कर देते हैं, तो यह बहुत बड़ा ईश्वरीय अपराध है। यद्यपि हम हाँ भी कर दें, तो यह आवश्यक नहीं है कि विवाह वहीं पर तय होगा। जहाँ पर ईश्वर की इच्छा होगी, जो पूर्व निर्धारित हो चुका है, वहाँ होगा। लेकिन जब मानव कोटि में अपने अहम् से, अपनी बौद्धिक चतुरता का प्रयोग करते हुए कोई एक नहीं अनेक लड़कियों को नापसन्द कर देते हैं किसी का रूप, किसी की शिक्षा व किसी की पारिवारिक स्थिति पसंद नहीं होती, इत्यादि। वे लड़के यहाँ सुनिश्चित मान लें, कि

उनका विवाहित जीवन अति दुखद अवश्य होगा। उनकी पत्नी अथवा संतान में कोई न कोई अपंगता, मानसिक रोग अथवा कोई अन्य भयानक कष्ट रहेगा, जिसको वे जीवन भर झेलते रहेगें। ऐसा मेरा भौतिक एवं आध्यात्मिक अनुभव है।

हम अपने बारे में ही कितना जानते हैं? जब मुझसे कोई पूछता है, कि ध्यान क्या है? तो मैं उसका एक सीधा उत्तर देता हूँ, कि स्वयं के साथ बैठना, अपने आपको जानना कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ? विभिन्न परिस्थितियों में मेरा स्वयं के साथ आन्तरिक व्यवहार कैसा होता है? इसी को मैं अपनी सरल भाषा में **'ध्यान'** मानता हूँ, कि स्वयं को स्वयं जानना। आम लोग जो अपने बारे में ही कुछ नहीं जानते, तो मात्र किसी को देखकर या 1–2 घंटा बातचीत कर उसके बारे में क्या जान सकते हैं? यदि कोई लड़का किसी लड़की को देखने गया है, तो उसे हाँ कर देनी चाहिए। यदि ईश्वरेच्छा नहीं होगी, तो कोई न कोई ऐसा विधान या व्यवधान बन जाएगा, कि वहाँ पर रिश्ता ही नहीं होगा। लेकिन किसी लड़के को या किसी लड़की को अपनी वधू अथवा वर के लिए लड़की या लड़का देखकर न पसन्द करना ईश्वरीय अपराध है। जिसकी सज़ा भुगते बिना कोई छूटता नहीं है। ऐसा अपराध नहीं करना चाहिए।

विवाह के बाद नवजीवन का प्रारम्भ होता है। इस गृहस्थ जीवन को किस प्रकार सर्वोत्तम बिताया जाए? प्राप्त धन का शास्त्रीय नियमों के अनुसार, धर्म गुरुओं के कथन के अनुसार उचिततम् वितरण करते हुए दान, पुण्य, यज्ञ, हवन करते हुए अपनी संतान को और स्वयं एक दूसरे को उचिततम् समय देते हुए, सबके प्रति सेवा भाव रखते हुए एक आर्दश वैवाहिक अथवा गृहस्थ जीवन, योगी के जीवन से कम नहीं है। **समस्त ईश्वरीय शक्तियों व पंच महाभूतों पृथ्वी, वायु, तेज, जल एवं आकाश, इन सबका पूजन सद्गृहस्थ के लिए बहुत आवश्यक है और सबसे आवश्यक है अपने बड़े–बुजुर्गों के लिए सेवा भाव, उनके प्रति श्रद्धा**। ये सब प्रकार के उत्तरदायित्व एक सद्गृहस्थ पर आ जाते हैं। लेकिन आज मायिक दौड़ में प्रत्येक व्यक्ति उलझ सा गया है। सुबह से रात तक सिवाय धन–सम्पति को एकत्रित करने या अपने नाम–यश या पदवी आदि के पीछे भागने के, मानो मानव को कुछ और सूझता ही नहीं है। तो इस दौड़ में मानव कई प्रकार की भयानक भूलें कर देता है।

जीवन का अर्थ क्या है ? हम पृथ्वी पर आए क्यों हैं? हमें जाना कहाँ है? यही

आने की हमें आवश्यकता क्यों पड़ी? जीवन काहे के लिए है? हम इन मानवीय विचारों को किस तरह छोड़ सकते हैं? यदि छोड़ते हैं, तो हम मानव कहलाने के योग्य ही नहीं हैं। यह सब जानने के लिए सत्संग, महापुरुषों की कृपा, श्रद्धा, परम ईश्वरीय विश्वास एवं निष्ठा का होना अति आवश्यक है। वरना, मानव इस मायिक एवं भौतिक जगत में एक मकड़ी के जाल की तरह फँस जाता है। धन, सम्पदा, स्त्री–संतान, पद, नाम, यश सब उसके लिए घातक हो जाते हैं। वह भयानक रोगों से ग्रसित हो जाता है, जिनका कोई उपचार ही नहीं है। यद्यपि जन्म एवं मृत्यु और विभिन्न प्रकार के दैहिक व भौतिक कष्ट किसी के हाथ में नहीं हैं तथापि सत्संग द्वारा सुचारु जीवन बिताने से इन पर एक विशेष नियंत्रण अवश्य आ जाता है। यह निस्सदेह मैं आपको कह रहा हूँ। तो जो मानव, धन–अर्जन एवं भौतिक शक्तियों के अर्जन में अपना अधिक से अधिक समय लगाते हैं और सत्संग व अन्य ईश्वरीय कार्यों के लिए समय देने से सकुचाते हैं, तो उनको जीवन का अधिकतम् समय अपने रोगों में ही काटना पड़ता है। चिकित्सालयों में अपना जीवन बिताना पड़ता है। उनके कई–कई वर्ष ऐसे ही बीत जाते हैं, कि जिनमें वे किसी भी भौतिक मानसिक एवं शारीरिक कार्य करने के लिए उपयुक्त ही नहीं रहते या फिर कोर्ट और कचहरियों के धक्के खाने पड़ते हैं। सुबह से शाम तक वहाँ बारी नहीं आती। वहीं बैठ–बैठ कर तंग आ जाते हैं और जीवन का बहुत बड़ा अन्तराल इस निरर्थक दौड़–धूप में बीत जाता है।

ईश्वर ने जीवन का जो समय दिया है, उसमें से ईश्वर का ध्यान, चिंतन एवं प्रशंसा का कुछ न कुछ समय श्रद्धा व भाव से लगाना अति आवश्यक है। वरन् समय ऐसा धोखा देता है, कि व्यक्ति सोचता रह जाता है, कि वह क्या चाह रहा था और क्या हो गया? मानव अपनी बुद्धि से जीवन को चलाना चाहता है, जो कि सम्भव नहीं है। हमारा जन्म, मृत्यु, लाभ, हानि, खोना, पाना, मिलना, जुलना और जीवन के जितने भी सब प्रमुख प्रकरण हैं, उसमें मानव बुद्धि का कोई भी कार्य नहीं है। हमारे जीवन का एक–एक क्षण, एक–एक पल उस ईश्वरीय सत्ता द्वारा ही नियंत्रित होता है। तो बुद्धि की चंचलता को वश में करने के लिए ईश्वरीय जाप, सत्संग, ध्यान, चिंतन, यश और हवन अति आवश्यक है। धन का सदुपयोग, दान, पुण्य और यज्ञ, हवन इत्यादि में करना अति आवश्यक है, नहीं तो हम धन का भोग नहीं कर सकते। यदि कोई मानव ईश्वर से विमुख हो जाता है, तो ऐसे मानव के लिए आप बिना

विचार किए यह मान लीजिए, कि उसका जीवन अति असंतुष्ट है। वस्तुएँ होते हुए भी वे उनका भोग नहीं कर सकता। आनन्द का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। आजीवन वह वस्तुओं के लिए अतृप्त रहता है। वह कभी अपने नाम से, यश से, अपनी स्त्री से, संतान से, परिवार से, अपने कार्य से, व्यवहार से, अपनी देह से एवं प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों से संतुष्ट नहीं होता। उसके लिए जीवन की प्रत्येक विधा कुछ न कुछ असंतोष, त्रास एव भय लिए प्रकट होती है। आज आपको अधिकांश मानव इसी कोटि में मिलेंगे।

जीवन में एक–एक पल का यदि हम आनन्द लेना चाहते हैं या आनन्दपूर्वक बिताना चाहते हैं, तो हमें हर पल ईश्वर का सम्पर्क साधना अति आवश्यक है। भले ही हम ईश्वरीय इच्छा से कुछ भी कार्य करें, पढ़ाई करें, व्यापार करें, युद्ध करें या राजनीति करें। ईश्वर ने जैसी–जैसी हमारी संरचना बना रखी है, उसके अनुसार कुछ भी करें, प्रत्येक कार्य के साथ हमें ईश्वर चिंतन या उस कार्य को प्रतिदिन ईश्वर के निमित्त करना परम आवश्यक है। गृहस्थ में जैसा कि मैं विस्तार में वर्णन कर चुका हूँ, कि सूर्योदय होने से पहले बिस्तर का त्याग अनिवार्य है। **जो गृहस्थ अपने समय को सोने में व्यर्थ करते हैं, समय उनको व्यर्थ कर देता है।** वे मात्र, पशुवत् जीवन बिताते हैं। जो गृहस्थ सूर्योदय होने से पहले बिस्तर का त्याग नहीं करते, वे कभी भी भाग्यशाली नहीं होते। भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति न होना दुर्भाग्य सा है ही, लेकिन परम दुर्भाग्य यह है, कि जब वस्तुओं की प्राप्ति तो, हो परन्तु उनका भोग न हो और यदि भोग हो तो आनन्द न आए। इस संसार में प्राप्त अथवा अप्राप्त वस्तुओं का भोग बहुत गहन चिंतनीय विषय है। यह आवश्यक नहीं कि सब लोग भोग अपनी प्राप्त वस्तुओं का ही करते हैं। बहुत से लोग ऐसे सौभाग्यशाली होते हैं कि वे उन वस्तुओं का भोग करते हैं, जो उनको प्राप्त नहीं होतीं और कुछ दुर्भाग्यशाली लोग वे होते हैं जिनको वस्तुएँ प्राप्त होती हैं लेकिन उनका भोग नहीं कर सकते। तो जो मानव सुबह जल्दी उठकर और सब प्रकार से विशुद्ध होकर अपने इष्ट के ध्यान में बैठते हैं, ईश्वर का चिंतन करते हैं और अपनी समस्त शक्तियों को उसके समर्पित करते हुए उससे प्रार्थना करते हैं कि **"हे प्रभु। आज का दिन परम सौभाग्यशाली दिन हो। आज के दिन जो भी कार्य मेरे द्वारा हो, वह सब आप ही के करवाए हुए हों।"** तो उस दिन के कार्यों के

फलस्वरूप जो भी प्रसाद मिलता है, उसको कोई भी परम गृहस्थ आनन्दपूर्वक चखता है। इस प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन और जीवन की अन्तिम स्थिति भी आनन्दमय ही होती है।

ईश्वरीय कार्य सदा स्वतः भाव से ही होते हैं। उनके लिए कुछ जुटाना नहीं पड़ता। उस समय उसी के अनुसार स्वतः ही परिस्थितियाँ बन जाती हैं। हमको तो मात्र उसमें हाथ सा लगाना होता है। ऐसे–ऐसे कार्य हो जाते हैं, जो हमारी बुद्धि की पहुँच अथवा योजनाओं से बहुत दूर होते हैं और हमारे लिए एक अचम्भा हो जाता है, एक विस्मय हो जाता है, कि यह सब कैसे हो गया? इसी प्रकार जीवन का प्रत्येक पहलू प्रत्येक क्षण व प्रत्येक पल ईश्वर इच्छा से ही चलता है और हम अहम्‌वश यह मान कर चलते हैं कि, जीवन मैं चला रहा हूँ। मेरा जीवन मेरी इच्छा से चल रहा है। यह बहुत भारी भूल है। समय के वे क्षण, वे पल मानव के विरोधी हो जाते हैं। उन पलों व क्षणों में अर्जित किया हुआ सुख–सुविधा का कोई भी सामान, मानव को अवश्य कष्ट पहुंचाता है। यही नहीं इसके साथ बहुत बड़ी सज़ा भी भुगतनी पड़ती है। सभी प्राप्तियाँ हमें ईश्वर इच्छा से ही होती हैं, अपनी बुद्धि का प्रयोग मात्र उनकी प्रशंसा के लिए ही करना चाहिए।

आज सम्पूर्ण विश्व में भय व्याप्त है, किसी को अपनी देह का भय, किसी को संतान का, किसी को पद का, किसी को धन का व किसी को सम्पत्ति का भय। प्रत्येक मानव प्रकट अथवा अप्रकट रूप में भयभीत है और उस भय को छिपाने के लिए लोग न जाने कितने–कितने कृत्रिम उपायों का प्रयोग करते हैं, अपने आपको छिपाने के लिए। तो इस भय के पीछे दर्शन क्या है? जो वस्तु हमारी नहीं है, जब उस पर हम अपना अधिकार जमाना चाहते हैं और अधिकार सा कर लेते हैं, तो उस वस्तु की प्राप्ति हमको अवश्य भयभीत कर देती है। इस विश्व में सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश, पाताल, सागर, नदियाँ, पर्वत, सम्पूर्ण विश्व की खनिज सम्पदाएँ, धन–सम्पति और इस विश्व का सम्पूर्ण ऐश्वर्य उस महासत्ता ईश्वर के अधीन है व उसी का है। यहाँ पर हमारा कुछ नहीं है। मात्र, कुछ समय के लिए हम इस संसार में लाए जाते हैं और निकाल दिए जाते हैं। यहाँ कोई भी कार्य हमारे बिना रुका हुआ नहीं है। कानूनी दृष्टिकोण से, मानवीय वैधता की दृष्टि से वस्तुएँ हमारी होती हैं लेकिन फिर भी वे भय का कारण क्यों बनती हैं? क्योंकि ईश्वर दष्टि से यहाँ हमारा कुछ भी नहीं है।

देव कृपा से यदि यहाँ पर कुछ प्राप्त भी हो जाता है, तो उसको ईश्वर निर्मित कर देना परम आवश्यक है अन्यथा हम उन वस्तुओं का भोग नहीं भोग सकते। वे वस्तुएँ हमारे लिए कष्ट और भय का कारण अवश्य बन जाएंगी। **जो सुख–सम्पदा ईश्वर ने दी है, यहाँ तक कि जो मानव देह हमको दी गई है, वह भी हमारे लिए है, हमारी नहीं है।** यदि हम गृहस्थ में इस परम ईश्वरीय रहस्य का प्रतिदिन ध्यान करें, चितन करें, मनन करें और जो कुछ ईश्वर कृपा से हमें धन इत्यादि मिलता है उसका दान–पुण्य के रूप में प्रयोग करें, तो हमारा जीवन अति सुखद एव आनन्दमय बीतने लगता है। रोग–दोष समाप्त हो जाते हैं अथवा बहुत कम हो जाते हैं। यहाँ पर एक बात और उल्लेखनीय है कि अपने गृहस्थ जीवन में हमको दुर्व्यसनों से अवश्य बचना चाहिए। बहुत व्यस्त लोग धन–अर्जन में, मान–अर्जन में, यश–अर्जन में सम्पदाओं एव शक्तियों के अर्जन में जो अपने आपको तथाकथित बहुत व्यस्त समझते हैं, वे थक जाते हैं और अपने कृत्यों द्वारा विक्षिप्त होकर अपने स्वयं से दूर होने के लिए नशों का संहारा लेते हैं। आज के युग में शराब का बहुत प्रचलन है। यहाँ सावधान करने के लिए मैं एक बार फिर कहूँगा कि जिस मानव को शराब आदि दुर्व्यसनों को लत पड़ जाती है,उसका धन, कीर्ति, यश सब नष्ट हो जाते है और उसकी मानसिक शान्ति व उसके परिवार का सुख समाप्त हो जाता है–

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना, जहाँ कुमति तहँ विपद निदाना।

दुर्व्यसनों से कुमति पैदा होती है। विभिन्न प्रकार के कष्ट ऐसे व्यक्ति के ऊपर और ऐसे परिवार के ऊपर स्वतः ही आने लगते हैं, यह एक नितांत सत्य है। हमारा कोई अधिकार नहीं है कि हम उस ईश्वर द्वारा दिए इस बहुमूल्य समय को दुर्व्यसनों में बिताए। इस जीवन काल में ईश्वर ने जितना भी समय हमको दिया है, उसमें यदि कोई **हमारे पास तथाकथित खाली समय है, तो वह हमें ईश्वर चिंतन, भजन और ध्यान में बिताना चाहिए, नहीं तो मृत्यु के समय एक क्षण का समय भी यदि मानव चाहे, उसको नहीं मिलता, अति बहुमूल्य है समय।** वास्तव में हम ईश्वर की संतान हैं, उसका अंश हैं और हमारे भीतर वही ईश्वरीय सत्ता इस पृथ्वी पर हमें देह धारण करवा कर लाती है, ईश्वर के विभिन्न प्रकार के चमत्कारिक कार्यों का दिग्दर्शन और प्रशंसा करने के लिए। जिसका मैं कई बार वर्णन कर चुका हूँ।

हरि कृपा का लक्षण क्या है ? धन मिलना, नाम मिलना, यश मिलना, ये कोई विशेष बात नहीं है। हरि कृपा का लक्षण है, जब मानव को सत्संग मिलता है। जीवन का एक सत्य दृष्टिकोण मिलता है, सत्य जीवन बिताने और समय के सर्वोत्तम प्रयोग की प्रेरणा मिलती है, तो समझिए हरि कृपा हो गई है। हरि कृपा का दूसरा अर्थ है–**आनन्द प्राप्ति**। हम सुख के लिए भाग रहे हैं। पर, याद रखिए जहाँ सुख होंगें वहाँ दु ख अवश्य होंगे, लेकिन जहाँ आनन्द होगा, वही आनन्द ही होगा। आनन्द ईश्वरीय सम्पदा है, ईश्वरीय गुण है। जहाँ संत मिलेगा जीवन आनन्दमय बन जाएगा। जहाँ सत्संग होगा वहीं जीवन में आनन्द का पदार्पण स्वतः ही हो जायेगा। हम अपनी तुच्छ सी बुद्धि पर इतनी उछल–कूद करते हुए इतने घोर अपराध कर बैठते हैं कि हमको पता भी नहीं चलता कि हम कर क्या रहें है? संत की कृपा से, सत्संग से, बुद्धि के साथ विवेक की जागृति हो जाती है, (दिव्य बुद्धि की) तो हमें मालूम चलता है, कि जो कुछ ईश्वर ने करवाना है, वह स्वयं ही करवाते हैं। मात्र हमारी बुद्धि उन कार्यों की सराहना के लिए है। जब विवेक द्वारा इन सत्यों का मालूम चलता है, तो मानव आनन्दमय जीवन बिताना शुरू कर देता है। सुखों के पीछे उसकी दौड़ समाप्त हो जाती है। विवेकी पुरुष आनन्द के पीछे भागता है, सुखों के पीछे नहीं, क्योंकि वह समझ जाता है कि जो इन्द्रिय–जनित सुख अथवा संसार के पदार्थों से जो सुख मिलता है, उसके साथ दुख भी चिपका हुआ है, जो एक दिन अवश्य आएगा। यह सब सत्संग और विवेक से और संतों की कृपा से जीवन में इन दुर्लभ गुणों का पदार्पण होता है–

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिए तुला एक अंग,
तूल न ताहि सकल मिली जो सुख लव सत्संग।।

संतों से और सत्संग से इतना आनन्दमय जीवन हो जाता है जो अनिर्वचनीय है।

।। जय जय श्री राम।।

लक्ष्मी दर्शन एवं दान

युवावस्था में विवाह शादी के बाद अक्सर जो सर्वोपरि एवं परम आवश्यक कार्य किसी भी पुरुष के सम्मुख होता है, वह है आजीविका चलाने के लिए धनोपार्जन का। विषय अति आवश्यक एवं गम्भीर है। **धनोपार्जन धन का एकत्रित करना, धन कमाना, गृहस्थ की एक बहुत बड़ी आधारशिला है, क्योंकि गहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद हर पहलू एवं जीवन की हर विधा में धन की आवश्यकता पड़ती है।** खान–पान, रहन–सहन और विभिन्न प्रकार के सामाजिक उत्सवों, सुख–दुख और अन्य कई प्रकार के बन्धनों एवं कार्यों के लिए किसी भी गृहस्थी को धन की ओर से सम्पन्न होना अति आवश्यक है। अब प्रश्न यह उठता है कि धन किस प्रकार का हो? कमाया किस प्रकार जाए? उसका सदुपयोग कैसे किया जाए और कितनी मात्रा तक उसको एकत्रित किया जाए इत्यादि? अनेक प्रश्न हैं जो धन के साथ जुड़े हुए हैं सदियों से।

शास्त्र ने लक्ष्मी के 108 स्वरूपों का वर्णन किया है। आपने सुना होगा कि जब माता सीता को प्रभु श्री हनुमान जी ने भगवान राम की अंगूठी भेंट की, तो माता सीता जो लक्ष्मी का अवतार मानी गई हैं, उन्होंने अति प्रसन्न होकर हनुमान जी को ***'अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता'*** का वरदान दिया।

यहाँ नौ निधियों का वर्णन आया है पर वास्तव में लक्ष्मी के 108 स्वरूप हैं और उन स्वरूपों को मुख्यत. 12 भागों में विभक्त किया है। 12 में विभक्त करने के बाद 9 प्रमुख स्वरूप हैं। 9 निधियाँ कही गई हैं, जिसमें से 3 सतोगुणी, 3 रजोगुणी तथा 3 तमोगुणी हैं। सतोगुणी निधि की बहुत सरल परिभाषा दी गई हैं कि **ऐसा धन जो स्वतः भाव से, बिना किसी विशेष दौड़–भूप के बिना किसी प्रकार के विक्षेप के आए और आनन्द मे जाए।** शुभ कर्मों में, दान–पुण्य, यज्ञ–हवन इत्यादि में खर्च हो। घर में सुख–शान्ति हो। सभी निरोग हों। पारस्परिक प्रेम और सद्भावना का वातावरण हो। शुद्ध भोजन, दुर्व्यसन रहित जीवन, सत्संग, महापुरुषों का घर में आगमन और मानव सेवा के लिए उस धन का प्रयोग और सबसे बड़ी बात उस धन की प्राप्ति के बाद सभी को परिवार में मानसिक संतुष्टि, यह सतोगुणी लक्ष्मी की पहचान एवं स्वरूप है। **संतोष को महापुरुषों ने सबसे बड़ा अमूल्य धन**

कहा है।

गोधन, गजधन, बाजधन और रत्नधन खान
जब आवै संतोष धन, सब धन धूलि समान।

जब मानव को संतुष्टि मिल जाती है, उसके हृदय में संतोष हो जाता है, तो उस संतोष के सामने सब प्रकार की सम्पदा एवं धन कोई भी अर्थ नहीं रखता और जब तक हृदय में असंतोष व्याप्त है, असंतुष्टि है, तब तक भले ही पृथ्वी की सम्पूर्ण निधि प्राप्त हो जाए, तो मानव का पेट नहीं भरता, असंतुलित ही रहता है। तो सतोगुणी निधि जिसको प्राप्त होती है, वे अक्सर संतुष्ट होते है।

दूसरी प्रकार की **निधि रजोगुणी कही गई है।** रजोगुणी धन भाग–दौड़ से आता है। प्रतिस्पर्धा की एक विशेष भावना बनी रहती है। दिन–रात ऐसे लोग व्यस्त रहते हैं और उस धन की प्राप्ति के बाद वे धन इसी प्रकार की दौड़–धूप में ही जाता है। ऐसे व्यक्तियों की जीवन के हर मोड़ पर भाग–दौड़ और प्रतिस्पर्धा की भावना ही रहती है। दान में भी प्रतिस्पर्धा, किसी प्रकार की विवाह–शादी और खर्चे में भी प्रतिस्पर्धा। खान–पान, रहन–सहन सब प्रकार के भावों में दिखावा एवं प्रतिस्पर्धा का भाव अग्रगण्य होता है और ऐसे मानव सदा मानसिक रूप से तनाव में ही रहते है। और–और धन पाने की इच्छा रहती है। जीवन अति तीव्र होता है इनका, मानो किसी अन्य कार्य के लिए इनके पास समय ही न हो। तो ऐसे लोगों का पारिवारिक जीवन, स्वयं अपना जीवन, बहुत अधूरा होता है। बस, एक ही लक्ष्य होता है किसी प्रकार से धन का अर्जन और शीघ्रातिशीघ्र अत्यधिक धन उपार्जन। ऐसा सा ही इनका स्वरूप एवं लक्ष्य निर्धारित होता है। सत्संग की ओर यह लोग विमुख रहते हैं। बड़े–बड़े धार्मिक आयोजन करवाते हैं लेकिन उसके पीछे भी एक प्रतिस्पर्धा एवं असंतोष का भाव ही रहता है। ऐसे व्यक्ति बहुत प्रकार के रोगों से ग्रसित रहते हैं, जैसे हृदय रोग, कैंसर, पेट में अल्सर आदि बीमारियाँ। जब वे बहुत थोड़े समय में अधिक से अधिक धन उपार्जन करना चाहते हैं, तो विभिन्न प्रकार के मानसिक तनावों से युक्त हो जाते हैं। चिड़चिड़ापन, पारस्परिक माधुर्य का अभाव, परिवार में तनाव, इस प्रकार के कई प्रकार के विक्षेप ऐसे लोगों के जीवन में अक्सर देखे जाते हैं, जो रजोगुणी होते हैं।

तीसरी प्रकार की निधि **तमोगुणी है**। चोरी–डकैती, वैश्यावृत्ति, नशीली वस्तुओं

का व्यापार, मारधाड़ और अन्य कुकृत्यों से इस प्रकार का धन कमाया जाता है। जो व्यवसाय सेवाभाव के माने जाते थे जैसे चिकित्सा इत्यादि के, उनमें जब धोखा–धड़ी से, लोगों की मजबूरी का अत्याधिक लाभ उठाते हुए धन कमाया जाता है, तो वह धन भी तमोगुणी निधि होती है। तमोगुणी निधि को प्राप्त मानव अत्याधिक भयभीत, तनावित और मानसिक रूप से तथा दैहिक रूप से रुग्ण रहता है। उसके परिवार में भयानक रोग रहते है जो कि कई–कई वर्षों तक चलते रहते हैं जिनका कोई इलाज नहीं होता। पारस्परिक परिवार के लोगों में तनाव होता है। ये व्यक्ति सत्संग का नाम तक नहीं जानते। ईश्वर से महाविमुख रहते हैं और यदि कभी कोई धर्म–कर्म कार्य करते भी है तो मात्र अपनी तामसिक शक्तियों को बढ़ाने के लिए तंत्र–मंत्र इत्यादि का संहारा लेते है। मायिक प्रकृति के लोग अपना कार्य सिद्ध करने के लिए क्या–क्या कर सकते हैं, उसका अनुमान कोई भी सात्विक व्यक्ति लगा ही नहीं सकता। वास्तव में इन लोगों का स्वयं का जीवन नारकीय होता है। लेकिन दुर्भाग्यवश ये इस तमोगुणी निधि से पीछा नहीं छुड़ाना चाहते। उसी को सत्य मानते हैं।

यहाँ पर संक्षेप में इन तीन प्रकार की निधियों का उल्लेख करना मैं इसलिए आवश्यक समझता हूँ, कि प्रत्येक मानव अपने द्वारा कमाए हुए धन के प्रकार का स्वयं निर्णय कर सकते है, कि, "मैं किस प्रकार का धन अर्जन कर रहा हूँ?" तो हमको स्वयं उसका ज्ञान हो जाएगा। हमारी जो मानसिक और शारीरिक स्थिति है और जिस प्रकार हमारा पारिवारिक जीवन चल रहा है उससे भी हम अपने धन का अनुमान लगा सकते हैं। यह एक बहुत विस्तृत एवं गहन विषय है, लेकिन संक्षेप में मैं इसके कुछ पहलुओं को यहां छूना आवश्यक समझता हूँ कि **गृहस्थ में धन की आवश्यकता तो है लेकिन धन कैसा हो, उसका स्वरूप क्या हो'** यह जानना परम आवश्यक है ताकि ऐसा न हो कि धन की प्राप्ति के साथ हम अपने जीवन को घोर नारकीय बना लें, जैसा कि आजकल अक्सर देखने में आता है। लोगों के पास धन का अभाव नहीं है, लेकिन मन की शान्ति का घोर अभाव है। पारस्परिक प्रेम एव स्नेह का भाव समाप्त हो गया है, माधुर्य समाप्त हो गया है। जीवन की शैली बहुत विकृत हो गई है, भयानक हो गई है। यहाँ तक कि आज एक मानव किसी को अपना नहीं कह सकता। आवश्यकता पड़ने पर उसके कोई काम

नहीं आता।

धन कभी कमाने से नहीं आता। तो प्रश्न यह उठता है कि धन बिना कमाने से कैसे आता है? तो यहाँ अर्थ यह है कि जब अमुक धन को "मैं कमा रहा हूँ" यह भाव समाप्त हो जाए। **वह धन अक्सर सात्विक होता है, जिसमें अहम् का भाव समाप्त हो जाए। अक्सर वह धन आपके सुख और शान्ति का, भोग का और आनन्दमय भोग का हेतु बनता है।** जब हम किसी कमाई पर अहम् की मोहर लगा देते है कि "यह धन मैं कमा रहा हूँ, इसको कमाने का कर्त्ता मैं हूँ" तो उसी समय वह धन रजोगुणी या तमोगुणी स्वरूप ले लेता है। अपने हृदय के भाव बहुत आवश्यक है, किसी भी प्राप्त की हुई वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए। सात्विक धन में कभी अहम् भाव नहीं होता। यह मुझे ईश्वर दे रहे हैं, उनकी कृपा से यह धन आ रहा है, ऐसा भाव सात्विक पुरुषों में रहता है। इसलिए जिस मात्रा में भी वह धन आता है, उसी में वह उनकी संतुष्टि का कारण बनता है। **तो न केवल धन कमाना बल्कि उस कमाई के पीछे यह भाव भी बहुत आवश्यक है। ईश्वर समर्पित करते हुए उस धन को जब हम घर लाते हैं, तो घर में उसका क्या स्वरूप होता है, यह बहुत कुछ हमारे भाव के ऊपर निर्भर करता है।** सुबह–शाम ईश्वर के दरबार में चिंतन, मनन, पूजन, यज्ञ–हवन, दान–पुण्य इत्यादि यह सब कृत्य और मानस में शालीनता, विनम्रता एव समर्पण का भाव लक्ष्मी को सात्विक बना देता है। ऐसे महापुरुषों के घर में लक्ष्मी चिरस्थायी होती है और सदा आनन्द का हेतु बनती है। **यदि हम संसार की समस्त प्राप्तियों का आनन्दमय भोग करते हुए जीवन बिताना चाहते हैं, तो हमें उन वस्तुओं पर अपना अधिकार छोड़ना अति आवश्यक है।** यहाँ कुछ भी हमारा नहीं है। हम इस संसार में खाली हाथ इस छोटी सी नग्न देह को लेकर आते हैं और उसी प्रकार खाली हाथ इस संसार से चले जाते हैं। हमारी धन–सम्पदा, हमारा भौतिक ज्ञान, डिग्रियाँ, हमारा पद, संतान, स्त्री और सब प्रकार के भौतिक पदार्थ, इसी भौतिक जगत में रह जाते हैं। **हमारे साथ चलता है हमारा भाव, हमारा मानसिक स्तर और हमारी आध्यात्मिक सम्पदा।** उसी के अनुसार हमको अगामी जन्म मिलता है और उस जन्म में हमको विभिन्न उपलब्धियाँ होती हैं और

उनका आनन्द मिश्रित भोग मिलता है।

यदि हम सब कुछ ईश्वर अर्पित कर दें, तो वह एक महासाधना है। तब तो जीवन का एक–एक पल यहाँ तक कि स्वप्न सृष्टि भी आनन्दमय हो जाती है। लेकिन यदि हम कुछ भाग भी ईश्वर अर्पित कर दें, तो भी जीवन अति सुखद सम्पन्न तथा ऐश्वर्यपूर्ण हो जाएगा। तो न केवल धन कमाना बल्कि धन किस प्रकार का हो और उस कमाई के पीछे हमारा भाव क्या हो और उसके साथ उसके दान–पुण्य आदि यह भी गृहस्थ में परम आवश्यक पहलू हैं। किसी भी उत्तम सद्गृहस्थ के लिए इनका ज्ञान और उसका प्रयोग अति आवश्यक है। अन्यथा धन का अति अर्जन व एकत्रीकरण और भी कष्टमय हो जाता है। इसलिए लक्ष्मी शक्ति है, जिसके बारे में एक गृहस्थ को अति विचारपूर्वक तथा सावधानी से प्रत्येक कदम रखना बहुत जरूरी हैं।

आपने भगवान विष्णु की प्रतिमाओं में अक्सर देखा होगा, कि भगवान विष्णु क्षीर सागर में लेटे रहते हैं, शेष शय्या पर और लक्ष्मी जी उनके चरण दबाती रहती हैं। तो **यदि हम धन का आनन्दपूर्वक भोग करना चाहते हैं, तो हमें उस शेषनाग रूपी मृत्यु को कभी भी भूलना नहीं चाहिए। पूरे दिन में कुछ भी क्षण हम अपनी मृत्यु का दिग्दर्शन कर लें, कि यह परम सत्य एक न एक दिन हम सबको अपने सम्मुख देखना है।** यह सांसारिक लीला एक दिन समाप्त अवश्य होगी। जिसका जन्म हुआ है, वह अवश्य मरेगा और सब कुछ यहीं छोड़ना पड़ेगा। तो इस परम सत्य का दिग्दर्शन यदि हम स्वयं कुछ क्षणों के लिए कर लें, तो इसमें कोई संदेह नहीं है, कि हमारे विभिन्न प्रकार के भौतिक पदार्थ और विशेष करके धन हमारे लिए अति सुखद हो जाता है। हमें भोग देता है और उस भोग का अन्त भी आनन्दमय होता है। अक्सर भोगों का अन्त दुखों में होता है, कष्टों में होता है, विक्षेप में होता है, ग्लानि में होता है। यदि हम लक्ष्मी का आनन्दमय भोग करना चाहते हैं, तो हमें 'दान' के महात्मय को जानना अति आवश्यक है। दान के पीछे दर्शन क्या है? दान का स्वरूप क्या है? इसके बारे में मैं अपना अनुभव आपके सम्मुख प्रस्तुत करता हूँ।

जब मानव अपनी किसी वस्तु, सम्पदा या धन से अपना अधिकार

किसी दूसरे के लिए छोड़ देता है, तो इस स्थिति को कहा है दान देना। विद्यादान, भूमिदान, धन का दान, सेवाओं का दान, विचारों का दान इत्यादि विभिन्न प्रकार के दान हैं। अक्सर देखा गया है कि दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं– एक तो वे जिनमें **दाताभाव** होता है। जिनकी इच्छा होती है कि वे अपना कुछ न कुछ दूसरों को अर्पित करें और दूसरे व्यक्ति वे जिनमें **लेने का भाव** होता है। वे प्रत्येक व्यक्ति से, प्रत्येक स्थान से, प्रत्येक अवसर में कुछ न कुछ लेने की ही आकांक्षा रखते हैं। यदि दोनों प्रकार के व्यक्तियों की हम तुलना करें, तो दाता सदा ही बड़ा माना जाता है। प्रभु की उपासना, ध्यान, मनन क्यों करते है? क्योंकि ईश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का दाता है। वह सभी को कुछ न कुछ देते हैं बल्कि इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, हमारा जीवन भी ईश्वर का ही दिया हुआ है। तो **दाता सदैव पूजनीय होता है सम्मानित होता है।** यदि इतिहास के पन्ने पलटें तो आपने बड़े–बड़े नशई, बड़े–बड़े जुआरी एवं दुर्व्यसनों से ग्रसित लोग बर्बाद होते देंखे, सुने अथवा पढ़े होगें, लेकिन ऐसे व्यक्ति जिन्होंने अपना सर्वस्व दूसरों के हित में न्यौछावर कर दिया, दान दे दिया, अपना सब कुछ लुटा दिया, वे सदा ही लाभान्वित ही रहे हैं। उनको सब कुछ लुटाने के पश्चात् भी सम्मान और बहुत बड़ी वस्तुएँ प्राप्त हुईं है। बड़े–बड़े राजे–महाराजाओं ने अपने राज–पाठ दान कर दिए दूसरों के हित के लिए। इतिहास आज भी उनको नमन करता है। मानवता उनको नमस्कार करती है।

दान के पीछे रहस्य क्या है? जैसा कि मैं अपने एक प्रवचन में जिसका शीर्षक है **"प्राप्य की प्राप्ति"** में वर्णन कर चुका हूँ कि जब मानव जन्म लेता है, उस समय उसके साथ वे समस्त वस्तुएँ वे समस्त प्राप्तियों आती हैं, जिनको वे अपने सम्पूर्ण जीवन में समय–समय पर प्राप्त करता है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवन में जो भी भौतिक उपलब्धियाँ हम करते हैं या हमें जो भौतिक पदार्थ मिलते हैं, धन–सम्पदा, पद, संतान व अन्य प्रकार की धरोहर इत्यादि जिसको हम समझते हैं कि हमने स्वयं प्राप्त किया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि उन समस्त वस्तुओं को हम पैदा होते ही अपने साथ लेकर आते हैं अर्थात् वे सब उपलब्धियाँ हमको जीवन में अमुक–अमुक स्थान एवं समय पर प्राप्त होनी ही थी। ऐसा विधि का विधान है। विशेष समय व विशेष स्थान पर आकर मानव मस्तिष्क एक विशेष परिस्थितियों से घिर जाता है। एक

प्रकार का वातावरण निर्मित हो जाता है और हम किसी विशेष कार्य को करने के लिए प्रेरित हो जाते हैं। विशेष प्रकार के व्यक्ति हमको मिल जाते हैं और हम किसी कार्य को कर ही बैठते हैं और उसमें जो खोना है, जो पाना है वह स्वतः ही हो जाता है।

यदि हम गम्भीरता पूर्वक एकान्त में कहीं बैठकर, आपने अतीत का दिग्दर्शन करें कि अपना होश सभालने से लेकर अभी तक जो–जो विशेष घटनाएँ जीवन में घटी हैं और जिनकी हमको स्मृति है, तो हम पाएंगे कि उन घटनाओं के घटने में, हमारा कोई भी बौद्धिक योगदान नहीं होता। घटनाएं घट जाती हैं, उनका विशेष वातावरण उसी समय निर्मित हो जाता है। वह दूसरी बात है कि अहम्‌वश बाद में ऐसी उपलब्धियों के लिए अपने को स्वयं को प्रशंसा के पात्र बनवाने का प्रयत्न करते हैं। किसी भी वस्तु की प्राप्ति हमको उस वस्तु के भोग और उस भोग के साथ आनन्द की आकांक्षा लिए हुए होती है, लेकिन साधारणतया जीवन में यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुओं की प्राप्ति के बाद उनका भोग भी उपलब्ध हो सके।

मान लीजिए कोई उसको भोग भी पाता है तो यह आवश्यक नहीं है, उस भोग के साथ आनन्द भी प्राप्त हो। कई बार तो भोग दुखों का कारण बन जाता है और भोग मानव को ही भोग लेते हैं। लेकिन जब हम उस वस्तु का कुछ अंश या सम्पूर्ण वस्तु को दान दे देते हैं, किसी के हित के लिए, तो वह वस्तु तो हमको प्राप्त होनी ही थी, हम पाएंगे उस वस्तु से कही अधिक मात्रा में वही वस्तु हमको फिर प्राप्त हो जाती है या उससे अधिक मात्रा मे उस वस्तु पर हमारा अधिकार हो जाता है, भले ही वह हमें प्राप्त न हो। बड़ा विचारणीय विषय है।

यह आवश्यक नहीं है कि जिन वस्तुओं, सम्पदाओं और धरोहरों पर हमारा अधिकार होता है, वह हमको प्राप्त ही हो। ऐसा भी देखा गया है कि कुछ लोगों को कुछ विशेष सम्पदाएं प्राप्त होती हैं, लेकिन उन पर उनका अधिकार नहीं होता। उनको वह अपने प्रयोग में नहीं ला सकते। और कुछ लोगों को सम्पदाएं प्राप्त नहीं होती, लेकिन उनका अन्य की सम्पदाओं पर अधिकार होता है वे उसको भोग सकते हैं। तो जब हम अपने अधिकार की किसी वस्तु को दान कर देते हैं, तो वह वस्तु और अधिक मात्रा में हमारे अधिकार में आ जाती है, भले ही हमारी प्राप्ति में न आए। उनको हम अधिकार पूर्वक भोग सकते हैं और उस भोग के साथ आनन्द की भी

सुनिश्चितता होती है। बहुत विचारणीय बात है, मैं इसको एक बार फिर दोहराऊंगा– संसार में हमें जिन–जिन भौतिक वस्तुओं की उपलब्धि होती है, वह हम पैदा होते समय अपने साथ ही लेकर आते हैं। हमको वे वस्तुएं अमुक स्थान पर, अमुक समय पर प्राप्त होनी ही थीं, लेकिन जब प्राप्ति के बाद उन वस्तुओं को हम छोड़ देते हैं, किसी के हित में दे देते हैं, तो हमको वही वस्तुएँ या उनसे भी उत्तम वस्तुएँ अपने अधिकार में अवश्य मिल जाती है। हमारा दष्टिकोण बृहद् हो जाता है। हम व्यष्टि से समष्टि में प्रवाह करने लगते हैं और उन वस्तुओं का अधिकतम भोग एवं आनन्द के साथ भोग कर सकते हैं। दान के पीछे यही दर्शन है। आपने स्वयं के या अन्य लोगों के जीवन में यह अनुभव किया होगा, कि प्रत्येक दानी, धनाढ्य व्यक्ति की एक विशेष रुचि होती है। जैसा कि मैं उल्लेख कर चुका हूँ, कि **दान केवल धन का ही नहीं अन्य वस्तुओं का भी होता है, अन्न–दान, वस्त्र–दान, भूमि–दान, अपने उत्कृष्ट विचारों का दान, विद्या का दान, विभिन्न प्रकार की चिकित्सा सेवाओं का दान आदि**। जब यह सेवाएं मानव हित के लिए की जाती हैं और इनके बदले में धन इत्यादि की भी आकांक्षा नहीं की जाती तो यह सब सेवाएं दान में आ जाती है।

दिव्य व्यक्तित्व के अध्याय में मैं उल्लेख कर चुका हूँ कि **यदि कोई व्यक्ति अपना दिव्य व्यक्तित्व प्रकट करना चाहे तो उसका मार्ग सेवा द्वारा भी है।** उदाहरण के लिए जब एक चिकित्सक, एक वकील, अपनी सेवाओं का निशुल्क दान करता है, अर्पित करता है, ऐसे लोगों को जो उन सेवाओं के बदले धन नहीं दे सकते, तो उसके बदले में उन लोगों से आशीर्वाद या शुभकामनाएँ मिल जाती हैं। **प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कितना भी निर्धन क्यों न हो, उसके भीतर एक दिव्य व्यक्तित्व होता है, एक ईश्वरीय शक्ति होती है, जो सबमें समान होती है भले ही वह किसी भी मानसिक या बौद्धिक अथवा शारीरिक स्तर का व्यक्ति हो**। यह शुभकामनाएँ व आशीर्वाद उनके हृदय से निकले हुए उद्‌गार, वो उन सेवाओं के देने वाले के अज्ञात कोष में चले जाते हैं जो दिखाई नहीं देता। जिसकी कोई गणना नहीं है। उन आशीर्वादों से हमारी आने वाली कई पीढ़ियाँ आनन्दपूर्वक जन्म बिताती हैं। ऐसे कुलों में महापुरुषों का जन्म होता है, दिग्गजों का

जन्म होता है, संसार के लिए उपयोगी मानवों का जन्म होता है और ऐसे महामानव जो मानव कल्याण के लिए अपनी सेवाएं अर्पित करते हैं, वे जन्म–जन्मातरों में उन विशेष आशीर्वादों एवं शुभकामनाओं को अपने साथ लेकर जन्म लेते हैं।

आपने बहुत व्यक्तियों के जीवन को देखा होगा यद्यपि वे बहुत कम सांसारिक कार्य करते हैं लेकिन जीवन का उपभोग करने के लिए उनके पास सब साधन स्वतः ही जुट जाते हैं। न केवल अपने लिए बल्कि, वे उन साधनों को पुनः दूसरे लोगों को बाँटते रहते हैं, जबकि उन साधनों को जुटाने के लिए स्वयं कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते। आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हैं वह लोग। ऐसे लोगों के बारे में समझ लीजिए कि उन लोगों के हृदय में अभी भी सेवा भाव है। तो आशीर्वाद एवं शुभ कामनाएं ये एक जीवात्मा के विशेष संग्रह में संग्रहित हो जाती है।

यहाँ एक बहुत रोचक एवं रहस्यमय विचार है कि जब हम इन सेवाओं को अर्पित करते हैं अहम् भाव से कि, "मैं अमुक–अमुक कार्य बिना धन की आकांक्षा के कर रहा हूँ" तो उन सेवाओं की भले ही आशीर्वाद व शुभकामनाएं हमें प्राप्त होती हैं लेकिन वह बहुत ज्यादा फलीभूत नहीं होती। फलीभूत होती है, लेकिन एक सीमा तक ही। जिस प्रकार कि बैंक में किसी सेविंग एकांउट में जब हम धन जमा करते हैं, उसका बहुत थोड़ा सा ब्याज मिलता है। परन्तु जब ये सेवाएं ईश्वर के नाम की जाती है कि, "मैं तो इस कार्य को करने की सामर्थ्य नहीं रखता हूँ। प्रभु की प्रेरणा से, उसी की इच्छा से, उसी की शक्ति से मैंयह कार्य कर रहा हूँ या मुझसे करवाया जा रहा है। मैं प्रभु का बहुत आभारी हूँ, जो मुझसे ऐसा कार्य करवा रहें हैं, समाज के लिए, देश के लिए, मानव–हित के लिए।" जब उन सेवाओं के पीछे हृदय से यह भाव आ जाता है, उन शुभकामनाओं एवं वरदानों का जो हमें अन्य लोगों से मिलते हैं, तो उसका प्रतिफल असंख्य गुणा हो जाता है और आध्यात्मिक कोष में जमा हो जाता है। जिसके इतने फल लगते हैं समय आने पर जिनको मानव स्वयं संभाल ही नहीं पाता। तो जन्म–जन्मान्तरों तक ऐसे लोग दाता बने रहते हैं। वे अपने हाथों से, अपनी बुद्धि से, अपनी वाणी से, अपनी लेखनी से कुछ न कुछ समाज को देते रहते है और उनके पास आता रहता है। यह एक सत्य दर्शन है दान के पीछे। यदि हम इसको आत्मसात् कर लें, तो अवश्य इस भाव से हम किसी को कुछ न कुछ देने के

लिए प्रेरित होंगे। यद्यपि तुरन्त उसका प्रभाव न हो लेकिन समय आने पर हमको वे वस्तुएँ पुनः अवश्य मिलेंगी और आनन्द के साथ मिलेंगी। जो लोग इन सेवाओं को, इस धन को प्राप्त करते हैं, उनको उनका आशीर्वाद और उनके अंदर छिपी हुई ईश्वरीय शक्ति वरदान रूप में कुछ न कुछ दाता को दे देती है। तो यह एक स्वतः भाव से चली हुई प्रक्रिया है, जिसके लिए कुछ विचारने अथवा सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

कुछ विद्यार्थी उदारचित्त के होते हैं। वे विद्या का दान अपने विद्यार्थी जीवन से ही करते हैं। कुछ विशेष जटिल विषय जब उनको समझ में आ जाते हैं, तो वे निस्संकोच, सरल भाव से अपने साथियों को समझाने का प्रयत्न करते हैं। तो समझ लीजिए ऐसे विद्यार्थी बचपन से ही महामानव, महापुरुष हैं। ऐसे विद्या के दाता अन्त में ब्रह्मविद्या के अधिकारी बन जाते हैं। एक ऐसी विद्या की प्राप्ति के जो किसी मानव–बुद्धि की पकड़ से बाहर है और ऐसे कुल में एक से एक बड़े विद्वानों का जन्म होता है, जो सहज भाव से बड़ी से बड़ी विद्याओं को सीख लेते हैं। यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि दान देते समय धन अथवा सेवाओं की मात्रा का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके पीछे उसके भाव का सम्बन्ध ज्यादा है। मान लीजिए हमारे पास दान के लिए कम धन है और कोई दूसरा व्यक्ति अधिक दान करता है और उसके पीछे उसका भाव उतना नहीं है तो कम दान दे सकने वाला व्यक्ति जिसके भाव में अधिक देने की इच्छा हो लेकिन परिस्थितिवश और आर्थिक तंगी के कारण वह अधिक न दे सकता हो, ऐसे व्यक्ति का दान अधिक फलीभूत होता है। त्रसित एवं विक्षिप्त मन से और अहम्पूर्वक दिया गया दान फलीभूत नहीं होता, बल्कि कई बार ऐसा दान व्यक्ति में कई विकारों को उत्पन्न कर देता है।

भूमि–दान का बहुत महात्म है। वास्तव में देखा जाए तो पंच–महाभूत पृथ्वी, जल, वायु, आकाश एवं तेज, जिनसे सारा ब्रह्माण्ड निर्मित है, ये सीधे ईश्वरीय बुद्धि के अधीन होते हैं। तभी तो जब कभी वरदान दिया जाए, श्राप दिया जाए या कोई विशेष प्रतिज्ञा की जाए या विशेष उपासना की जाए तो इन पंच महाभूतों में से सभी को या किसी एक को अथवा एक से अधिक को साक्षी बनाया जाता है। पृथ्वी पर जो कि पाँच महाभूतों में से एक प्रमुख महाभूत है, साक्षात ईश्वर का अधिकार है और

हमको इस धरा पर आने के पश्चात् जो भी स्थान रहने के लिए, सिर ढकने के लिए मिलता है, तो हमें प्रभु का बहुत धन्यवाद करना चाहिए। दुर्भाग्यवश जब हम उस स्थान पर अपना अधिकार जमा लेते हैं, तो हम भय से ग्रसित हो जाते हैं, तनावित हो जाते हैं और यदि हमारे पास काफी धन–सम्पदा और सम्पति एकत्रित हो, तो उसमें से कुछ भू–भाग हम दान दे देते हैं, तो वह इस पृथ्वी के समस्त भोगों को भोगने के अधिकारी हो जाते हैं।

आपने देखा होगा बड़े–बड़े भूमिपति, राजा–महाराजा जो अपने आपको पृथ्वीनाथ जब धोषित कर देते हैं, तो आजीवन इस पृथ्वी के भाग को लेकर लड़ते–मरते रहते हैं। अन्त में जब मानव मृत्यु की पाश में प्रवेश करता है, तो एक इंच भी भूमि किसी के साथ नहीं जाती। सब कुछ यही छोड़कर जाना पड़ता है। इसलिए कहा गया है, कि इन पंच महाभूतों का व्यापार नहीं करना चाहिए। "उत्तराधिकार" के एक लेख अति विस्तारपूर्वक इसका उल्लेख किया गया है, कि हमें अपनी धरोहर की वसीयत तक भी नहीं लिखवानी चाहिए।

वास्तव में इस पृथ्वी पर जितनी भी सम्पदा है, निधि है व भोग्य पदार्थ हैं, उन सभी पर मात्र ईश्वर का ही अधिकार है। हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है। वास्तविकता यही है और उन पदार्थों की प्राप्ति के बाद हम उस पर से यह भाव ही हटा दें कि "यह मेरा है"। बल्कि यह मानें कि, "वह मेरे लिए है।" तो उन पदार्थों के भोग का एक विशेष आनन्द उत्पन्न हो जाता है और उसके बाद जब हम उसका कुछ भाग किसी की सेवा के लिए, किसी के हित के लिए छोड़ देते हैं, तो हमको और अधिक अधिकार हो जाता है ऐसे पदार्थों पर। यह गहन सत्य है जिसका यदि हम हृदय से अनुसरण करें तो इस जीवन को आनन्दपूर्वक भोगते हुए बिता सकते हैं। इसी प्रकार जब किसी सेवार्थ, धर्मार्थ अथवा मानव हित के कार्य के लिए हम अपने शारीरिक श्रम का दान करते हैं, निस्वार्थ भाव से, तो उसे कहा है–**श्रमदान**।

यही यह बात विशेष विचारणीय है या सावधानी की है, कि दान करते समय किसी प्रकार का यह भाव हमको कभी भी नहीं रखना चाहिए, कि ऐसा करने से ऐसी प्राप्ति होगी। **यदि किसी प्राप्ति का भाव हमारे अन्दर आ जाता है तो प्राप्ति तो हो सकती है लेकिन उस भौतिक प्राप्ति के बाद भोग या आनन्द नहीं**

मिलता। यह भी अपने में एक दर्शन है। कुछ लोग अपनी देह का रक्त दान करते हैं, कुछ लोग अपने सुन्दर विचारों का दान करते हैं। जब यह दान का भाव किसी का स्वतः स्वभाव हो जाता है। ऐसे लोगों को मैं महामानव ही कहूँगा। उनका जीवन दैवीय होता है। "दिव्य व्यक्तित्व" वाले अध्याय में मैं यह उल्लेख कर चुका हूँ कि किसी भी सर्वोत्कृष्ट मानव में सात व्यक्तित्व होते हैं और ऐसे मानवों के भीतर **जो स्वतः भाव से कुछ न कुछ देने की प्रवृति रखते हैं, उनमें सात से अधिक व्यक्तित्व उत्पन्न होने लगते हैं और ऐसे व्यक्ति देव–कोटि में आ जाते हैं। मानव देह में ही वे देवता बन जाते हैं और जब यह स्वभाव पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है, उनका प्रति क्षण, प्रति श्वास और प्रत्येक सोच, हृदय की प्रत्येक धड़कन मात्र परोपकार के लिए होती है।** वे सारी वसुन्धरा को, सारी मानव जाति को, सारे प्राणी जगत को अपनी देह मानकर चलते हैं और जहाँ पर किसी को कुछ देने का अवसर आता है, किसी को श्रमदान किसी को धनदान, किसी को भूमिदान, तो उनके लिए यह दान शब्द दान नहीं रहता उनका स्वभाव हो जाता है किसी को देना। उनकी अपनी देह इतनी बृहद् और विस्तृत हो जाती है, कि जिस प्रकार अपनी देह के लिए कुछ न कुछ करके मानव को सुख मिलता है, तो ऐसा वे सारी वसुन्धरा के लिए, प्राणी मात्र के लिए कुछ न कुछ करके स्वयं को संतुष्ट और सुखी पाते हैं। लोगों के कल उनके स्वयं के कष्ट बन जाते हैं। ऐसे महामानव एक समय पर ईश्वर–कोटि में आ जाते हैं। वे अंशावतार होते हैं, जिनमें यह भाव कभी भी नहीं होता कि 'मैं किसी के लिए कुछ कर रहा हूँ।' वे मात्र स्वभाववश जागृति में तो क्या, स्वप्न में भी किसी का कुछ न कुछ भला करते ही हैं। लेकिन जब यह सेवा किसी व्यक्ति–विशेष, किसी धर्म–विशेष, किसी समुदाय–विशेष के लिए की जाती है, तो वहाँ पर इन सेवाओं के प्रतिफल में संकीर्णता आ जाती है। ऐसे महामानव यद्यपि समष्टि में विचरते हैं, लेकिन उनका दृष्टिकोण सीमित ही रहता है।

इस प्रकार इस वसुन्धरा पर असंख्य मानव हैं, असंख्य भाव है और असंख्य व्यक्तित्व हैं। तो जब किसी भी मानव में अपनी कोई भी बहुमूल्य वस्तु, कोई भी सेवा, कोई भी श्रम, अपनी देह के अंग, अपना रुधिर, भाव, विचार, ज्ञान, विद्या अथवा

सर्वस्व न्यौछावर करने का भाव जागृत होता है, तो समझिये ईश्वर की महती कृपा है। ऐसे लोग पृथ्वी पर समस्त पदार्थों को आनन्दपूर्वक भोगते हुए देवतुल्य जीवन बिताते हैं। उनके आने वाली संतान उनके इस भाव का आनन्द लेती है और वह जन्म–जन्मांतरों में उच्च–कोटि के मानव वर्ग में आते हैं। जीवन जीते हुए भी वे अक्सर मोक्ष–पद के अधिकारी हो जाते हैं। विशेषकर वे लोग जो मानव के कष्टों के लिए, प्राणी मात्र के कष्टों के लिए ईश्वर के सम्मुख प्रार्थना करते हैं, उसको कहा है–**भक्तिदान, जो सर्वोच्च दान है।** जब हम किसी के लिए देव–दरबार में, अपने इष्ट के सम्मुख बैठकर प्रार्थना करते हैं, तो विशेष आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण हो जाता है। ऐसे महामानव व्यष्टि से ऊपर उठ जाते हैं और उनका समष्टि प्रवाह होता है। ऐसे महापुरुषों को नमन है। यहाँ सक्षेप में मैंने विभिन्न प्रकार के दान का, दानियों का, दाताओं का वर्णन किया है। जिस पर आप विचार करें, अनुसरण करें तो हमारा जीवन दिव्य हो जाता है।

।। जय जय श्री राम।।

प्रारब्ध

आज आपके सन्मुख एक अति विशिष्ट विषय जो कि सारे संसार के लिए अनादि काल से एक रहस्य का हेतु बना हुआ है, प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। इस विषय का नाम है–**प्रारब्ध,** जिसको साधारण भाषा में हम भाग्य कह देते हैं। यह प्रारब्ध क्या है? इसका अस्तित्व क्या है? इस प्रारब्ध में क्या कोई दैवीय परिवर्तन संभव है क्या इस प्रारब्ध से पूर्णतया या अंशतया छुटकारा मिल सकता है और यदि हम पूर्णतया विमुक्त हो जाएं, तो जीवन का प्रारूप क्या होगा? ये कुछ विभिन्न पहलू मैं इस प्रवचन के अन्तर्गत स्पष्ट करने की कोशिश करूँगा।

अति विचारणीय विषय है, इसलिए आप सबकी एकाग्रता चाहूँगा। मान लीजिए किसी अमुक–अमुक व्यक्ति की एक मृतक देह पड़ी हुई है। जैसा कि आप जानते हैं एक मृतक काया जड़ होती है और जड़ का अपना कोई प्रारब्ध नहीं होता। वह मृतक देह धर्मातीत है, उसका अपना कोई धर्म नहीं है। कर्मातीत एव कर्त्तव्यातीत है। न उसका कोई कर्म है, न उसका कोई कर्त्तव्य है। देशातीत और कालातीत है। वह समय से बंधी हुई नहीं है। उसको इस अवस्था में कितनी भी देर रख लिया जाए और उसका किसी भी स्थान पर किसी भी रीति से संस्कार कर दिया जाए, वह कभी भी, किसी भी प्रकार का विरोध नहीं करती। तो उसका कोई प्रारब्ध नहीं माना जाता। और वह चेतन सत्ता जिसके कारण वह व्यक्ति जीवित था, वह उससे पृथक हो जाती है, जिस चेतन सत्ता को ईश्वर का अंश माना जाता है। तो ईश्वर के अपने अंश का कोई प्रारब्ध हो नहीं सकता। अर्थात् जीव जब जीवित होता है, तो उसमें एक ईश्वरीय शक्ति चेतन सत्ता है और दूसरी उसकी जड़ देह है। इस जड़ देह में पाँचों महाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु एव आकाश का सम्मिश्रण रहता है।

अब यदि हम अति विचार द्वारा विश्लेषण करें, तो जड़ का कोई प्रारब्ध होता नहीं है और चेतन का कोई प्रारब्ध हो नहीं सकता। तो जीवित व्यक्ति में प्रारब्ध कहाँ से आया? प्रारब्ध किसका हुआ? भाग्य किसका हुआ? लेकिन भाग्य का अपना एक अस्तित्व अवश्य है। तो जड़ और चेतन की जो ग्रन्थि है, जिसको अमुक नाम और रूप दे दिया जाता है, उसका प्रारब्ध माना जाता है। यह व्यक्ति विशिष्ट नाम और विशिष्ट रूप का है, तो उसका प्रारब्ध है। जड़ का अपना प्रारब्ध नहीं है। चेतन का

प्रारब्ध बनता नहीं है। जड़ और चेतन की जो ग्रन्थि है, जिसको हम स्वयं और सारे संसार के विभिन्न प्राणियों को विभिन्न–विभिन्न नामों, रूपों में जानते हैं या मानते हैं यह प्रारब्ध उनका है।

जैसा कि मैं अभी वर्णन कर भी चुका हूँ, यदि हम जीवित अवस्था में अपनी जड़ स्थिति को धारण कर लें, तो वह स्थिति है शव की। स्वयं को हम शव मान लें अर्थात् हमारी देह द्वारा, हमारे मस्तिष्क द्वारा, हमारी बुद्धि द्वारा जो भी विभिन्न सांसारिक कार्य हो रहे हैं। सम्पूर्ण कार्यो को उनके प्रारम्भ होने से लेकर मध्य और अंत, तीनों को और यहाँ तक कि कर्मफल को भी हम ईश्वर निर्मित कर दें और स्वयं पूर्णतया अकर्त्ता स्थिति में आ जायें **"कार्य करते हुए अकर्त्ता।"** यहाँ शव से मेरा अर्थ पूर्ण जड़ता से नहीं है, बल्कि हम पूर्णतया यदि अकर्त्ता हो जाएं, जो कि यदि असंभव नहीं तो अति कठिन स्थिति है। बहुत अधिक साधना और परम ईश्वरीय कृपा से ही यह स्थिति बन सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हमारी प्रत्येक विचारधारा, हमारी सोच और हमारा प्रत्येक दैहिक, दैविक, मानसिक कर्म, हमारी सुषुप्ति, जागृति और प्रत्येक हमारी दैहिक अवस्था, ईश्वर निमित्त हो जाये, जिसको हमने कहा है पूर्णतया अकर्त्ता भाव, तो हम प्रारब्ध से मुक्ति पा सकते हैं।

शव पूजनीय होता है। शव, जैसा कि मैं कह चुका हूँ धर्मों, कर्त्तव्यों और कर्मों से अतिरिक्त होता है। तो इसी प्रकार वे महामानव, जो कि ईश्वरमय हो चुका है और उसके किसी भी कृत्य में उसका कर्त्तापन नहीं है, यहाँ तक कि वह श्वास भी ईश्वर इच्छा से ही लेता है। उसके जीवन का प्रत्येक श्वास, प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पल उसकी सम्पूर्ण प्राण–गतियाँ ये यदि ईश्वर निमित्त हो जाएं, ऐसा साधक पूर्णतया अकर्त्ता होता है और उसकी मानसिक स्थिति शव के समान होती है, वह पूजनीय होता है, वह कर्त्तव्यातीत और कर्मातीत होता है। उसका प्रारब्ध भास समाप्त हो जाता है। उसका सम्पूर्ण जीवन और जीवन की सम्पूर्ण विधाएँ मात्र ईश्वर सत्ता की शक्ति से ही चलती हैं।

यही यह बात विशेष उल्लेखनीय है, कि हम अक्सर अपने कर्मों के फल को प्रारब्ध का नाम देते हैं। हम प्रारब्ध बन्धन में भी स्वयं ही बंधते हैं। कोई कार्य जब हमारे द्वारा सम्पन्न होता है, उस कार्य की समाप्ति के बाद जो हमारी वृत्ति बनती है,

उस वृत्ति का फल ही हमारा जीवन है। हमारे जीवन की समस्त विधाएं, समस्त कलाएं, समस्त धाराएं और जीवन का समस्त प्रारूप हमारी वृत्तियों का फल है न कि कर्मों का। बिना कर्म के भी हम उन वृतियों का निर्माण अधिक अच्छा कर सकते हैं। यदि हमें इस रहस्य का ज्ञान हो जाए, तो कर्म की भी कोई आवश्यकता नहीं है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को प्राप्त करता है, उसको हम सौभाग्यशाली कहते हैं। जब किसी से कुछ खो जाता है या कुछ कठिन समय आ जाता है, तो वहाँ पर हम दुर्भाग्य की संज्ञा दे देते हैं। उसका सम्बन्ध हम कर्मों से करते हैं, कि अमुक व्यक्ति ने अच्छे या बुरे कर्म किए होंगे। व्यवहारिक दृष्टि से तो यह सत्य है लेकिन वैचारिक दृष्टि से जो–जो कर्म हम कर्त्ताभाव से करते हैं, उनकी समाप्ति के बाद जो हमारी व्यक्तिगत वृत्ति बनती है, उस वृत्ति का प्रतिफल है हमारा जीवन, जिसको हम कर्मफल कह देते हैं। उस वृति के निर्माण के लिए कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है।

मानसिक जगत में कर्म अंकित नहीं होते, बल्कि वृत्तियाँ अंकित होती है। उदाहरण के लिए एक योद्धा रणक्षेत्र में अपने शत्रु को मारना है और एक व्यक्ति मामूली झगड़े में किसी व्यक्ति को मारता है, तो दोनों ने यद्यपि कर्म एक ही किया, किसी व्यक्ति को मारने का। परन्तु उस कर्म को करने के पीछे उनकी वृति अलग–अलग थी। तो जीवन का सम्पूर्ण स्वरूप उनकी वृत्ति के अनुसार चलता है, कर्म के अनुसार नहीं। बहुत विचारणीय विषय है, जब कोई भी कर्म, जो कि हमारे द्वारा हुआ है या हमने किया है यद्यपि इन दोनों विचारधाराओं में भी एक बहुत बड़ा अन्तर है, उस कर्म को जब हम अपनी बुद्धि की मान्यता दे देते हैं, कि "यह मैंने किया है" तो हम उस कर्म के फल मे कर्त्ताभाव से भोक्ता भाव में आ जाते हैं। उसका भुगतान हमको अपनी वृति के हिसाब से करना ही पड़ेगा। **जहाँ हम कर्त्ता बनेंगे, वहाँ हमें भोक्ता बनना ही पड़ेगा, यह नितान्त सत्य है।** उदाहरण के लिए एक व्यक्ति सड़क पर चला जा रहा है और उसको किसी बैल ने या पशु ने कोई आघात पहुँचा दिया, तो वह पशु उस कर्म के फल का बधंक नहीं है, क्योंकि उस पशु की बुद्धि ने उस कर्म को कोई मान्यता ही नहीं दी। इसी प्रकार कोई अबोध बालक यदि कोई ऐसा कृत्य कर बैठे, कि किसी व्यक्ति के लिए वह अति हानिकारक हो जाये, शारीरिक रूप से या मानसिक रूप से, तो उस अबोध बालक को कोई भी

अपराधी नहीं कहता, क्योंकि के अबोध है। वह कर्म उसकी मान्यता से अछूता रह जाता है। **किसी भी कर्म को मान्यता हमारी बुद्धि देती है, हमारी अर्न्तआत्मा देती है तो यह था, प्रारब्ध का शव प्रकरण।**

जब हम अति भक्तिभाव से ईश्वर की सानिध्यता में आ जाते हैं, तो हमारा एक–एक क्षण, एक–एक पल, एक–एक श्वास, हमारे प्राण की हर गति ईश्वर निमित्त हो जाती है। उसके बाद किसी भी कर्म का ऐसा आभास होता है, जैसे कोई शक्ति हमारी देह द्वारा, मन द्वारा या हमारी बुद्धि द्वारा उन कर्मों को करवा रही है। तो यहाँ हम उस निमित्त भाव से भी मुक्त हो जाते हैं। उस अवस्था में हम कर्म और कर्म की गतियों से विमुक्त हो जाते हैं, बंधन रहित हो जाते हैं। वहीं प्रारब्ध की मान्यता समाप्त हो जाती है। हमारा सम्पूर्ण जीवन हमारी दृष्टि में, मात्र ईश्वर अधीन हो जाता है। वास्तविकता तो यही है कि प्रत्येक मानव का, प्रत्येक जीव–जन्तु का सम्पूर्ण जीवन ईश्वर इच्छा से ही चलता है, लेकिन अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करते हुए अज्ञानतावश, अहम्‌वश हम उस कर्म का कर्ता स्वयं को मान लेते हैं और वहीं हम फँस जाते हैं। तो शव प्रकरण में साधक किसी भी कर्म का बोझ अपने ऊपर नहीं लेता।

दूसरा, प्रारब्ध से मुक्ति का जो बहुत विशिष्ट दृष्टिकोण मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ, वह है **शिव–भाव**। **या तो हम शव बन जायें और या हम परम समर्थवान शव बन जायें!**

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है?

यह स्थिति क्या है? यह शिव भाव है कि 'मैं शिव हूँ, मैं साक्षात् चेतन हूँ, मैं साक्षात् ईश्वरीय अंश हूँ।' जब साधक इस दृष्टिकोण में विचरता है, उस समय भी उसके विचारों में, उसकी मानसिक स्थितियों में इतनी उत्कृष्टता आ जाती है, इतनी विलक्षणता उत्पन्न हो जाती है, इतना सशक्त हो जाता है वह, कि उसके द्वारा जितने भी कर्म होते हैं, वे उन समस्त कर्मों के फल के बन्धन से विमुक्त हो जाता है। किसी भी कर्म का कोई फल उसके कर्म–बंधन का हेतु नहीं बनता। वह इतनी समर्थवान स्थिति है, कि वहाँ जड़ता का कोई कारण ही नहीं है। साक्षात् ईश्वरीय

आदेशों से वह कार्य होते हैं। ईश्वरीय इच्छा से होते हैं। **वहाँ इच्छा, इच्छुक, इच्छाफल, इच्छापूरक समस्त ईश्वरीय हो जाते हैं। इसे कहा है शिव भाव।**

यदि हम प्रारब्ध से मुक्त होना चाहते हैं, तो हमारी नाम और रूप में जड़ और चेतन की जो ग्रन्थि है, ग्रन्थि के दोनों तत्वों को विलग कर दें, शव को अलग और शिव को अलग कर दें और उन तत्वों में से किसी भी एक में, साधना द्वारा प्रवेश कर जाए, तो हम निश्चित रूप से प्रारब्ध–बोध से और प्रारब्ध–बंधन से अवश्य मुक्त हो जाएंगे। परन्तु क्या यह इतना सरल कार्य है? इतना सरल कृत्य है? अति कठिन साधना से या विशेष ईश्वरीय अनुकम्पा से यह संभव हो सकता है। परन्तु हम सब लोग एक साधारण से जीव हैं जो जन्म–मृत्यु के इस काल बंधन में अपना जन्म दर जन्म बिताते रहते हैं। किसी विशेष जन्म में, किसी विशिष्ट समय पर जब कोई संत मिल जाए, इष्ट कृपा हो जाए, आत्म–कृपा हो जाए, गुरु–कृपा हो जाए, तो हम इस कर्म–बंधन से, प्रारब्ध–बंधन से मुक्त होने के लिये लालायित हो जाते हैं। अपनी अनुभूति और अनुभव के अनुसार जो मैंने अनुभव किया है इष्ट कृपा से, उसके कुछ प्रकरण मैं आपके सम्मुख रखता हूँ।

मान लीजिए, एक व्यक्ति सोया हुआ है और स्वप्न देखता है। स्वप्न में वह कोई अपराध करता है और उस अपराध में घबराकर वह स्वप्न से जागृति में आ जाता है। अब इस प्रकरण का आप विश्लेषण कीजिए। बहुत विचारणीय विषय है, आप अति एकाग्रता से इस प्रकरण को सुनिए। जागृत स्थिति में वह व्यक्ति अपने स्वप्न का किसी दूसरे के सामने प्रस्तुतिकरण करता है। तो यहाँ वह व्यक्ति अपने दोनों स्वरूपों को, एक उसका स्वरूप वह था, जो सोया हुआ था और वह स्वरूप उस स्वप्न का दृष्टा था। उस स्वरूप में कुछ भी हलचल नहीं थी। सम्पूर्ण स्वप्न को उस स्वरूप ने देखा। दूसरा स्वरूप, उसी व्यक्ति का जो दृष्टा है स्वप्न का, वही व्यक्ति स्वप्न में स्वप्नवाला भी बन जाता है। इस बात को मैं और स्पष्ट करूँगा। मान लीजिए, एक व्यक्ति रामस्वरूप नाम का है और वह सोया हुआ है। सोये हुए उसने कोई भयानक स्वप्न देखा। तो स्वप्न से उठकर वह रामस्वरूप वर्णन करता है, कि 'उसने अमुक–अमुक कृत्य किया।" विचार दृष्टि से देखें, तो यहाँ पर दो रामस्वरूप

हैं। एक स्वप्न देखने वाला और दूसरा स्वप्न वाला। जो स्वप्न वाला रामस्वरूप था वह स्वप्न देखने वाले रामस्वरूप से भिन्न था। कोई भी व्यक्ति अज्ञानतावश अपने दोनों स्वरूपों को मिला देता है कि "मैंने स्वप्न देखा, मैंने यूँ किया।" जबकि स्वप्न देखने वाला व्यक्ति अलग होता है। तो स्वप्न वर्णन करने वाले रामस्वरूप ने जब स्वप्न वाले रामस्वरूप को अपना तद्‌रूप मान लिया कि, 'मैं वही रामस्वरूप हूँ' तो जो भी उसने स्वप्न में बुरा कृत्य किया, यद्यपि वह स्वप्न में ही किया, तो भी स्वप्न वर्णन करने वाले रामस्वरूप में ग्लानि का भाव आ जाएगा। मुझे आशा है कि आप इस प्रकरण से स्पष्ट हो गए होंगे। और यदि जागृत रामस्वरूप को यह मालूम हो जाये कि, "जो स्वप्न वाला रामस्वरूप था वह मैं नहीं था" तो तुरन्त उससे ग्लानि का भाव समाप्त हो जाएगा।

इस स्वप्न की और गहराई में चलते हैं, मै आपकी एकाग्रता चाहूंगा–यदि स्वप्न देखते हुए स्वप्न वाले रामस्वरूप को यह ज्ञान हो जाए, कि सम्पूर्ण स्वप्न में उसके सहित समस्त पात्र, देश, काल, परिस्थितियाँ उसके स्वप्न देखने वाले स्वरूप से प्रकट हुई है। तो स्वप्न में जितने भी कृत्य हैं उन समस्त से रामस्वरूप विमुक्त हो जाएगा। थोड़ा जटिल विषय है। जब हम अपने जीवन में स्वयं को दृष्टा मान लेते हैं और उस दृष्टाभाव में हम अपनी देह, मन, अपनी बुद्धि और इनके द्वारा हुई प्रत्येक प्रक्रिया को हम मात्र दृष्टाभाव से देखते हैं, तो हम प्रारब्ध से मुक्त हो जाते हैं। यदि हमें यह भी ज्ञान हो जाए, कि जो समस्त कृत्य हमारे द्वारा हो रहे हैं, इनका कारण कोई और ही है। हम दृष्टाभाव में आकर भी समस्त दृश्य के कारण नहीं है, मात्र दृष्टा हैं हम। जिस प्रकार कि स्वप्न देखने वाला रामस्वरूप, स्वप्न का दृष्टा है लेकिन वो स्वप्न का कारण नहीं है, क्योंकि वह स्वप्न किसी अन्य द्वारा दिखाया जा रहा है। तो यहाँ तीन विभक्तियाँ हुई –

(1) एक स्वप्न देखने वाला रामस्वरूप

(2) एक स्वप्न वाला रामस्वरूप

(3) एक ऐसी महाशक्ति जिसके निर्देशन से, जिसकी इच्छा से यह स्वप्न दिखाया जा रहा है। उसको कहा है हमारा कारण शरीर। तो महापुरुषों ने मानव शरीर की तीन विभक्तियाँ की है –**स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण।**

हमारा कारण शरीर जो है, वह ईश्वरीय अंश है और एक शरीर सूक्ष्म है, जिसके भीतर समस्त प्रकरण होता है और एक स्थूल शरीर है जो समस्त प्रकरण का केन्द्र है।

जब हमें अपनी इस स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह के रहस्य का आभास हो जाएगा, तो हम मात्र दृष्टा बन जायेंगे। इस प्रकार हम अपने प्रारब्ध से मुक्त हो सकते हैं और प्रभु की लीला का आनन्दपूर्वक दिग्दर्शन करते हैं। तो इस लीला में खोना, पाना, मिलना, बिछुड़ना, जन्य और मृत्यु क्या? हम इन सबका महात्मय खो देते हैं। उस प्रभु की नाट्यशाला और उसमें होने वाले दिव्य नाटक का हम आनन्द लेते हैं। यही परम सत्य है।

।। जय जय श्री राम।।

ऐश्वर्य

आज अपने इष्ट प्रभु श्री हनुमान जी की दिव्य प्रेरणा एवं निर्देशानुसार आपके सम्मुख ऐश्वर्य क्या है? ऐश्वर्य की प्राप्ति कैसे की जाए? परम ऐश्वर्य व्यक्ति के एवं व्यक्तित्व के लक्षण क्या हैं इत्यादि इस विषय विचार करेंगें। जैसा कि मैं अपने पिछले कई प्रवचनों में इंगित कर चुका हूँ, कि ईश्वर के छः गुण हैं–**सौन्दर्यवान, ऐश्वर्यवान, ज्ञानवान, बलवान, ख्यातिवान एवं त्यागवान।** जो व्यक्ति विश्व में ऐश्वर्यवान है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह ईश्वर के एक विशिष्ट गुण से परिपूरित है अर्थात् वह ईश्वर के सान्निध्य में है।

ऐश्वर्य शब्द पर यदि हम गहनता से विचार करें, तो **ऐश्वर्य का अर्थ है सब प्रकार की विभूतियों से विभूषित।** अच्छा स्वास्थ्य हो और जीवन यापन के लिए अच्छा धन हो और संतोष हो साथ में क्योंकि बिना संतोष के किसी भी भौतिक शक्ति धन इत्यादि की प्राप्ति का अपना कोई अर्थ नहीं होता। तो संतोष जनित धन हो, सुख–शान्ति हो परिवार में, सभी स्वस्थ हों, अपने इष्ट–मित्र अच्छे हों, शुभ हो और घर में सत्संग होता रहे, महापुरुषों का आवागमन हो, मस्तिष्क में किसी प्रकार का तनाव न हो, सुखमय जीवन हो। जो–जो भी भौतिक उपलब्धियाँ हैं, उनमें संतोष हो। इसके अतिरिक्त समाज में आपका नाम हो, लोगों में आपका सम्मान हो, ऐसी बहुत सी बातें ऐश्वर्य में आती हैं। प्रश्न यह उठता है, कि परमात्मा ने सारे ब्रह्माण्ड की रचना की है। असंख्य जीव–जन्तु एवं मानव हैं। तो प्रत्येक मानव ऐश्वर्यवान क्यों नहीं है? इसके पीछे क्या दर्शन है?

उस महाऐश्वर्य रूप परमात्मा ने समस्त मानवों को ऐश्वर्यवान क्यों नहीं बनाया' वास्तव में देखा जाए, जहाँ ईश्वर है, वहाँ पर ऐश्वर्य होता ही है। कुछ लोग प्रश्न कर बैठते हैं, कि ईश्वर कहाँ नही है? ईश्वर तो सर्वत्र विराजमान है। तो ऐश्वर्य सर्वत्र क्यों नहीं है? यह सत्य है कि ईश्वर सर्वत्र विराजमान है, लेकिन कुछ अज्ञानतावश और अबोधतावश ईश्वर के समीप होते हुए भी ईश्वर से दूर हट जाते हैं। ऐसे लोग ऐश्वर्य के समीप होते हुए भी ऐश्वर्य का दिग्दर्शन नहीं कर सकते। जिस प्रकार कि सूर्य भगवान पूरे ब्रह्माण्ड में अपनी किरणों का प्रकाश व उष्मा देते हैं। यदि हम स्वयं को ढक लें, आच्छादित कर ले तो वहाँ पर सूर्य की किरणें नहीं पहुँच सकती। इसी

प्रकार जहाँ ईश्वर है, वहाँ ऐश्वर्य है। **यदि हम ईश्वर से अपने आपको दूर कर ले और अन्य कुकर्मों द्वारा ईश्वर से परे से हट जाएं और ग्लानिपूर्ण जीवन जिएँ, तो ऐश्वर्य के होते हुए भी ऐश्वर्य का भोग नहीं कर सकते।**

ऐश्वर्य के लिए महापुरुषों ने एक सूत्र दिया है, **जहाँ शुद्धता है, वहाँ ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य और शुद्धता का दामन–चोली का साथ है।** जहाँ अशुद्धता है, वहाँ ऐश्वर्य का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा होता। शुद्धता शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है। **'सम्पूर्ण शुद्धता'** (Purity in Toto) सम्पूर्ण शुद्धता में, मानव के लिए प्रथम तो उसके निवास, जिस स्थान पर वह उठता–बैठता है, कार्य करता है, उस स्थान का शुद्ध होना और सुगन्धित होना, दैवीय वातावरण होना आवश्यक है, चाहे वह कार्यालय हो, चाहे वह निवास हो, चाहे वह शयनकक्ष हो, चाहे वह पूजा का स्थान हो। जो भी स्थान छोटा या बड़ा, जैसा भी है, उसका विशुद्ध होना। विशुद्ध होने से हमारा तात्पर्य यह नहीं कि वह कीमती चीज़ों से सुसज्जित हो। ऐसा अर्थ नही है। थोड़ा बहुत जो भी वहाँ सामान है, वह अपने उचित स्थान पर हो, उसकी एक विशेष रूप–रेखा हो।

दूसरी, अपनी **देह की शुद्धता**। जो भी वस्त्र पहनने के लिए उपलब्ध है, वे स्वच्छ ही, दुर्गन्धित न हों, स्नान आदि–आदि द्वारा देह की शुद्धता।

इसके बाद ऐश्वर्य के लिए जो परम शुद्धता की आवश्यकता है, वह है–**मानसिक शुद्धता, बौद्धिक शुद्धता।** देह की शुद्धता के बारे में विस्तार में कहना हम आवश्यक नहीं समझते, क्योंकि सभी बुद्धिजीवियों को यह मालूम है, कि देह को शुद्ध कैसे रखा जाए। स्थान को, निवास को, कार्यालय को स्वच्छ एवं शुद्ध कैसे रखा जाए? एक स्वस्थ देह के लिए जो खान–पान है, उसकी शुद्धता का होना परम आवश्यक है। आज संसार में तमोगुण की अधिकता है। खान–पान लोगों का बहुत अशुद्ध हो गया है। जितने दुर्गन्धित पदार्थ हैं, जैसे मांस, अण्डे, मछली इत्यादि के सेवन से बुद्धि और शरीर दोनों का विनाश होता है। इनको स्वास्थ्य के लिए जो उपयोगी बताया गया है, वह एक भ्रम है। एक चिकित्सक होने के नाते मैं आपको यह बता रहा हूँ। हम चिकित्सक लोग यह जानते हैं, कि जब किसी जीव को, किसी पशु को खाने के लिए मारा जाता है, पहले तो हमें उस पशु के स्वास्थ्य की कोई

निश्चितता नहीं होती। मान लीजिए उसका स्वास्थ्य ठीक भी हो तो जैसा कि एक साधारण व्यक्ति भी जानता है कि मृत्यु के बाद हर क्षण, एक क्रिया शुरू हो जाती है जिसे कहा है 'सड़न'। कुछ देर के बाद कोई जानवर मरा हो, तो उसमें दुर्गन्ध पैदा हो जाती है। मृतक देह के अन्दर ऐसे रासायनिक परिवर्तन आते हैं जिसकी आज तक किसी के पास कोई गणना नहीं है। उन रासायनिक परिवर्तनों के अनुसार मृतक देह के अन्दर मांस के अन्दर कुछ विशेष ज़हरीले रासायन पैदा हो जाते हैं और वे कितनी मात्रा में पैदा होते हैं, उसकी आज तक कोई भी गणना नहीं कर सका है। तो शायद उन जहरीले तत्वों के कारण ही देह में उत्पन्न होने वाले भयानक रोग– Peptic ulcer, cancer,heart problems, high B.P. और मानसिक कष्ट व अन्य असाध्य रोग, जिनका कोई इलाज ही नहीं है, मांसाहारी लोगों में 10 गुणा ज्यादा होते हैं। यह एक नग्न सत्य है, जिसको कोई नकार नहीं सकता।

दूसरा, मैं एक मनोवैज्ञानिक सत्य आपके सामने रखने जा रहा हूँ, कि ईश्वर ने सभी जानवरों को अपनी रक्षा के लिए एक सुनिश्चित व्यवस्था दी है। किसी भी जानवर को उसकी हत्या से पहले यह ज्ञात हो जाता है, कि उसकी हत्या की जाएगी और जब उस पर प्रहार किया जाता है उसको मारने के लिए, तो उसमें भयानक मानसिक वेदना होती है और वह बहुत भयानक रूप से चिल्लाता है, चाहे वह मुर्गा या मुर्गी हो, चाहे वह बकरा हो या अन्य जानवर हो। यह उन लोगों ने अनुभव किया होगा, जिन्होंने जानवर को मारते हुए देखा होगा। तो आप मुझसे सहमत होंगे कि जब कोई व्यक्ति अथवा जीव भय के कारण चिल्लाता है, तो उसकी सम्पूर्ण ग्रन्थियों से इस प्रकार के विषैले तत्व निकलते हैं, जो तुरन्त सारी देह में फैल जाते हैं। जिस समय उस भयभीत जानवर का मांस कोई खाता है, तो वह ज़हरीले तत्व खाने वाले की देह में चले जाते हैं। इसलिए हमारे विशेष शोध के अनुसार मिर्गी जैसे भयानक रोग मांसाहारी लोगों में ज्यादा मिलते हैं। तो मांस खाने से इसका आध्यात्मिक पहलू यदि कुछ क्षण के लिए हम भूल भी जाएं, तो स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से भी मांसाहार अति भयानक है क्योंकि असाध्य बीमारियाँ मांसाहारियों में, शाकाहारियों की अपेक्षा अधिक होती हैं। न केवल बीमारियाँ बल्कि मानसिक अस्वस्थता भी मांसाहारी लोगों में ज्यादा होती है।

यूरोपियन देशों में अब शाकाहार का प्रचलन हो चला है। कभी आप मरे हुए जानवर के मांस को सूंघे तो उसे सदा दुर्गन्धित पाएंगे। जब आप दुर्गन्धित भोजन का सेवन करेंगे, तो शुद्धता की आशा ही नहीं करनी चाहिए। तो जो भोजन शारीरिक रूप से और मानसिक रूप से आज नहीं तो कल अस्वस्थ कर ही देगा, ऐसे व्यक्ति में ऐश्वर्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसलिए भोजन की शुद्धता परम आवश्यक है। भोजन शुद्ध शाकाहारी, सुगन्धित और जितना सादा हो, उतना उचित है। नियमित हो, उचित समय पर खाया जाए और भोजन खाने से पहले जितना हो सके मन को शान्त रखा जाए, तो वह भोजन सुपाच्य हो जाता है। शरीर के लिए और मस्तिष्क के लिए बहुत उपयोगी हो जाता है। भोजन खाया कैसे जाए? यह भी बहुत महत्वपूर्ण है। शान्त वातावरण में, उल्लासित मन से भोजन किया जाए, तो अधिक उपयोगी है।

आज शराब का सेवन बहुत अधिक हो गया है। हमारे शास्त्र द्वारा शराब का सेवन घोर पाप कहा गया है। **पाप की सात श्रेणियाँ है–पाप, सामान्य पाप, महा पाप, घोर पाप, अतिपाप, जघन्य पाप एवं अकाट्य पाप। सातवीं श्रेणी का अकाट्य पाप है। ऐसा पाप जो ईश्वर भी क्षमा नहीं कर सकता।** कहा गया है कि इसको संत क्षमा कर सकता है। शराब चौथी श्रेणी के घोर पाप में आती है। प्रभु कृपा से जो शराब के दर्शन को मैंने समाधि द्वारा अनुभव किया है, वह आपके सम्मुख रख रहा हूँ। जो अकाट्य सत्य है। **शराब का पीना तो घोर पाप है ही, शराब को अपने घर में, मात्र रखने का भी घातक परिणाम होता है। उस घर में दो बातें अवश्य होगी–प्रथम वहाँ कोई न कोई महाक्लेश अवश्य होगा ही।** इसका अर्थ यह नहीं है कि जहाँ शराब का सेवन या वास नहीं है, वही क्लेश नहीं होगा, लेकिन जिस स्थान पर शराब होगी, वहाँ क्लेश अवश्य होगा ही। कोई पति–पत्नी का कलह, कोई संतान की ओर से, कोई रोगों की वजह से, किसी प्रकार की कोई मुकदमेबाजी व किसी अन्य प्रकार का क्लेश। क्लेशों के हज़ारों प्रकार है। उसमें से कोई न कोई महाक्लेश उस घर में अवश्य रहेगा और दूसरा यह कि भले ही उस घर में अथाह आय हो, बहुत धन आता हो, लेकिन वही धन की ओर से संतुष्टि नहीं होगी, **वहाँ पर अथाह धन के होते हुए भी धन**

की कमी ही रहेगी।

तो निष्कर्ष यह है कि शराब का सेवन करने वाला व्यक्ति यदि यह कहे कि, "मेरे घर में बहुत सुख, शान्ति है, मुझे धन की कोई कमी नहीं है, धन से मैं पूर्णतया संतुष्ट हूँ।" तो यह समझ लीजिए कि वह व्यक्ति शराबी के अतिरिक्त झूठा भी है। ऐसा हो ही नहीं सकता, यह बात मैं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बोलता हूँ। इसको सब लोगों ने प्रयोग करके देखा है। यह परम सत्य है। ऐश्वर्य में शराब एक बाधा ही नहीं है, बल्कि एक पाप है, घोर पाप।

अन्तिम शुद्धता है, मानसिक शुद्धता। शारीरिक शुद्धता, खान–पान की शुद्धता, रहने के स्थान की शुद्धता महत्व तो रखती है, लेकिन **सबसे बड़ी शुद्धता है, आपके विचारों की शुद्धता, मानसिक शुद्धता।** अब मानसिक शुद्धता के लिए क्या किया जाए? मानसिक शुद्धता का मात्र एक उपाय है, कि ईश्वर में परम विश्वास रखते हुए उसका अविरल प्रकट अथवा अप्रकट रूप से नाम–जाप करते रहिए। आप कहेगें कि ईश्वर का नाम जपते हुए काम कैसे करेंगे' यह प्रश्न प्रायः बुद्धि–जीवी लोग करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि उस महाब्रह्माण्ड का निर्माता, पालनकर्त्ता एव संहारकर्त्ता, वह स्वयं में इतना बड़ा कर्त्ता है, कि जिससे उसने जो कुछ भी करवाना है, वह स्वयं ही करवा लेता है। **जीवन में जो विशिष्ट घटनाएं होती हैं, उसमें मानवबुद्धि का या मानव कृत्यों की कोई भी विशेष भूमिका नहीं होती। परमात्मा ने जिससे जो भी करवाना है, वे स्वयं ही करवा लेते हैं।** आपका एक ही पुरुषार्थ है कि आप अपनी बुद्धि को विशुद्ध रखिए, क्योंकि बुद्धि में जब अशुद्ध विचार आएंगे, तो हमारे विचार न केवल निरर्थक होते हैं, बल्कि नकारात्मक भी होते हैं। ऐसे विचार हमारे जीवन में ऐश्वर्य को समाप्त कर देते हैं। उन विचारों को रोकने के लिए नाम–जाप का बहुत बड़ा महात्व है, जो हिन्दू दर्शन ने पूरे विश्व को दिया है। जिन लोगों को नशों की लत होती है, यदि वे लोग नाम–जाप करें, तो उनमें यह लत समाप्त हो जाती है।

प्रभु के नाम का सिमरन, उसका चिंतन, एक ऐसी अमोघ शक्ति है, जिससे हम पथभ्रष्ट होने से बच जाते हैं। नहीं तो मानव बुद्धि इतनी सशक्त है, कि किसी भी समय मानव को किसी भी गर्त में ले जा सकती है। हमारे ऐश्वर्य का विनाश कर

सकती है। बस, इसको उस कार्य से रोकना है हमको, कि जो कार्य प्रभु ने करवाने है, जिसने इसका सृजन किया है, वे स्वयं ही करवा लेंगे"। तो बुद्धि की शुद्धता को बनाए रखने के लिए और बढ़ाने के लिए नाम–जाप अमोघ शस्त्र है। गुरू नानक देव महाराज ने कहा है–

नानक दुखिया सब संसार, सो सुखिया जो नाम आधार

जो व्यक्ति नाम–जाप और सिमरन नहीं करते, वे ऐश्वर्य का कभी भी आभास मात्र भी नहीं कर सकते। मैंने पहले कहा है कि **जहाँ ईश्वर है, वहाँ ऐश्वर्य है। ईश्वर की सानिध्यता का आभास करने के लिए नाम–जाप बहुत बड़ा शस्त्र है।** जहाँ हमको ईश्वर की सानिध्यता का आभास होता रहेगा, वहाँ ऐश्वर्य होगा ही और जहाँ सानिध्यता नहीं होगी, वही ऐश्वर्य होते हुए भी उसका भोग नहीं होगा। जहाँ नाम–जाप चलेगा, वही हमारे विचारों में नकारात्मक सोच नहीं आएगी। हमारी सोच का निरर्थक होना इतना घातक नहीं है, जितना नकारात्मक होना घातक है। विचार निरर्थक ही तो उससे विशेष हानि नहीं है, लेकिन यदि विचार नकारात्मक ही, तो यदि हम जीवन में चार पग आगे बढ़ते है, तो ये नकारात्मक विचार हमको 40 पग पीछे ले जाते हैं। तो जीवन के अन्त में हम पाते हैं, कि हमने भौतिक रूप से खोया ही खोया है, पाया कुछ नहीं। तो ऐश्वर्य के लिए सकारात्मक विचारों का और शुद्ध विचारों का होना बड़ा आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त जब हमारे विचार शुद्ध होते हैं नाम–जाप से, प्रभु सिमरन से, चिंतन से, मनन से, तो हम किसी व्यक्ति से धोखा–धड़ी करने के लिए अपनी बुद्धि का दुरुपयोग कभी नहीं करते। यह बात बहुत स्पष्ट रूप से मैं कहना चाहता हूँ, कि जब हमारे हृदय में, मन में, बुद्धि में किसी को धोखा देने का विचार भी आता है, तो उस व्यक्ति को तो धोखा देकर हम कुछ हानि करेंगे या नही करेंगे, यह हमें ज्ञात नहीं है, लेकिन उस विचार के आते ही हमारे स्वयं की हानि उसी समय शुरु हो जाती है। जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का दुरुपयोग लोगों को धोखा देने में, ठगने में, छलने में लगाते हैं, वे कभी ऐश्वर्यवान नहीं हो सकते। किसी को ठग कर वे धन कमा सकते हैं, लेकिन वह धन उनके लिए घातक हो जाएगा। किसी की सम्पत्ति हड़प सकते हैं, लेकिन उस सम्पत्ति का वे कभी भोग नहीं कर सकते। वह सम्पत्ति

आजीवन तो क्या आने वाली पीढ़ियों के लिए भी विनाश का और तनाव का हेतु बनी रहेगी।

प्रभु ने अगर किसी को सशक्त बुद्धि दी है, तो नाम–जाप द्वारा उसकी दिव्य बनाए, क्योंकि अकेली बुद्धि मनुष्य का विनाश कर सकती है। बुद्धि का विवेक पूर्ण होना, दिव्य होना, आवश्यक है, उसके लिए नाम–जाप, चिंतन एवं मनन की बहुत आवश्यकता है। जहाँ पर बुद्धि निर्मल होगी, ईश्वरमय होगी, विवेकपूर्ण होगी, वहाँ पर ऐश्वर्य अवश्य होगा। भले ही आप जगलों में जाकर, पहाड़ों में जाकर गुफा बनाकर बैठ जाइए, जितनी आपके विचारों में निर्मलता और शुद्धता आएगी, आपके पास ऐश्वर्य वहाँ चलकर पहुँच जाएगा। ख्याति, बल यह सब चीजें कभी भी भागने, दौड़ने से नहीं मिलती स्वतः मिल जाती है। लेकिन इसके लिए धैर्य चाहिए। परम धैर्य।

तो ऐश्वर्य की अभी तक जो मैंने विवेचना की है, कि ऐश्वर्य क्या है और ऐश्वर्य किस प्रकार बहता है? **जिस प्रकार पानी या कोई और तरल पदार्थ अगर पृथ्वी पर गिर जाये, तो वह सदा ढलान की ओर बहता है, इसी प्रकार ऐश्वर्य शुद्धता की ओर बहता है, स्वतः ही बहता है।** यदि हम स्वयं में, अपने परिवार में, अपने समाज में ऐश्वर्य लाना चाहते हैं, तो हमें वही पर शुद्धता को लाना होगा, पूर्ण शुद्धता। हमारे निवास की, हमारी देह की वस्त्रों की, हमारे खान–पान की शुद्धता, दुर्व्यसनों से छुटकारा और ईश्वर भजन, चिंतन, मनन व जाप द्वारा मानसिक व बौद्धिक शुद्धता से हम सभी ऐश्वर्यवान हो जाएंगे।

ऐश्वर्य का यह मूल–मंत्र मैंने आपके सम्मुख रखा है। यदि हम थोड़ा बहुत प्रयत्न इस ओर करें, तो हमारा जीवन अति सुखद और आनन्दमय हो सकता है। वस्तुओं की प्राप्ति में आनन्द नहीं है, वस्तुओं के भोग में आनन्द नहीं है, आनन्द हमारे भीतर की वस्तु है जैसा कि मैं अपने कई प्रवचनों में कह चुका हूँ। तो जो वस्तुओं का आनन्द है उसका सम्बन्ध भीतरी आनन्द से है। आज हम स्वयं के जीवन को देखें या संसार को देखें तो आज बहुत भाग–दौड़ है। सभी व्यक्ति व्यस्त हैं। यहाँ तक कि निद्रा मे भी लोग व्यस्त ही रहते हैं। किसी को शान्त निद्रा भी नहीं आती। उस व्यस्तता के पीछे वस्तुओं की प्राप्ति का उद्देश्य रहता है। जबकि ऐश्वर्यवान व्यक्ति के पीछे वस्तुएँ खुद दौड़ती हैं। भोग उसके पास स्वयं चलकर आते हैं। ऐश्वर्य में यह

बहुत महत्वपूर्ण है, जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ, कि ऐश्वर्यवान व्यक्ति कभी भोगों के पीछे नहीं भागते। जो व्यक्ति भोग के पीछे भाग कर भोगना चाहता है, तो निश्चित जान लीजिए कि भोग उसको भोग जाते हैं और ऐश्वर्यवान व्यक्ति के चरणों में भोग चलकर आते हैं। वह वास्तव में भोग भोगता है। ऐश्वर्यवान व्यक्ति स्थिर बुद्धि के होते हैं। तो जहाँ पर ईश्वर चिंतन होता है, मनन होता है, ईश्वर उपासना होती है शुद्धता होती है, वहाँ पर स्थिरता होती है।

तप का अर्थ है किसी भी प्रकार से मानसिक या शारीरिक स्थिरता को उत्पन्न करना, जिससे हम अपने ईश्वर की सानिध्यता का आभास कर सकें। तो ऐश्वर्यवान व्यक्ति तपस्वी होते हैं। इस प्रकार ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए, मानसिक शुद्धता के लिए अपनी तंत्रिकाओं की शक्ति को अधिकतम करने के लिए हमें जप–तप, संयम, शुद्धता इन सब सदगुणों का यदि हम अभी से अनुसरण एव पालन शुरु करें तो हम सभी ऐश्वर्यवान हो जाएंगे।

।। जय जय श्री राम।।

खोज

आज चहुँ ओर दृष्टि दौड़ाइए सारे महाब्रह्माण्ड में जहाँ–जहाँ मानव वास करता है, वही पर एक से दूसरे स्थान, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे स्थान पर दौड़ता ही रहता है, भाग रहा है, कुछ पाने के लिए। आगे बढ़ने के लिए। होश संभालते ही दौड़ शुरू होती है और मृत्यु–पर्यन्त, यह दौड़ मानव को व्याकुल कर देती है। पुनर्जन्म होता है, फिर वही दौड़ शुरु हो जाती है और इस प्रकार जन्म–जन्मातरों तक यह सिलसिला अविरल चलता रहता है। इस जन्म में जो–जो भौतिक उपलब्धियाँ हुई, उनको पुनः–पुनः पाने के लिए, उससे कुछ आगे बढ़ने के लिए, फिर यह दौड़ना आरम्भ कर देता है। इस प्रकार जन्म दर जन्म बीतते रहते हैं, लेकिन यह दौड़ता रहता है।

क्या ऐसा नहीं लगता है कि किसी वास्तविक किसी खोई चीज़ को खोजने का असफल प्रयास कर रहा हो? सत्य यही है, यही सत्य है। कुछ खो गया है, कुछ बहुमूल्य वस्तु, कुछ ऐसी चीज़, जिसको खोकर वह, यह भूल गया है कि, "मेरा क्या खो गया है" पर उस वस्तु का एक विशेष आनन्द, इसकी स्मृति से ओझल नहीं हुआ है। उस स्वरूप से परे हटते ही इसको एक तड़पन महसूस होती है, जिसको शान्त करने के लिए दौड़ता है। कभी यह, कभी वह, न जाने क्या–क्या पाता रहता है। कुछ देर के लिए इसको एक संतुष्टि सी ज्ञात होती है और पुनः–पुनः वही दौड़! अन्ततः यह असंतुष्ट का असंतुष्ट ही रहता है।

यदि हम इस सम्पूर्ण प्रकरण पर गहन विचार करें, तो **वास्तविकता यह है कि मानव के भीतर इसका सच्चिदानंद स्वरूप छिपा हुआ है। एक ऐसा दिव्य स्वरूप जो अविरल सत्य है चेतन है एवं आनन्द है। वह है इसका ईश्वरीय स्वरूप, जो इसका जन्म–सिद्ध अधिकार है।** वह इसका है और समस्त अन्य स्वरूप उसी स्वरूप पर आधारित **से** हैं। ईश्वर ने 'बुद्धि' नामक एक उत्कृष्ट शक्ति मानव को दी है। उस बुद्धि का दुरुपयोग कर, यह होश सम्भालते ही स्वयं को इस दृष्टि का पालनकर्त्ता, निर्माणकर्त्ता और संहारकर्त्ता समझने लगा। यह अपने उस सच्चिदानंद स्वरूप को भूल गया। इसके जीवन का एक–एक क्षण, एक–एक पल, इसका एक–एक श्वास और इसके सम्पूर्ण प्राण एवं प्राण शक्तियाँ

मात्र इसके उस ''सच्चिदानंद'' स्वरूप पर ही आधारित है। यह उस स्वरूप से बिछुड़ कर स्वयं में विक्षिप्त हो गया है।

वैज्ञानिक उन्नति हुई विशेषकर बीसवीं सदी में। **उस वैज्ञानिक उन्नति के साथ मानव यह भूल गया, कि विज्ञान मात्र उत्कृष्ट मानव बुद्धि का प्रतिफल है।** थोड़ा सा यह पीछे घूमकर देखता, तो इसको विचार आता कि मानव बुद्धि किसने बनाई है ? **एक ऐसी महासत्ता है, जो असंख्य मानवों की बुद्धि का निर्माण करती है, संचालन करती है।** असंख्य बच्चे एक दिन में पैदा होते हैं पूरे विश्व में। इतनी असंख्य बुद्धियों की निर्माता, कोई शक्ति तो है। विज्ञान क्या है? यह प्रकृति के रहस्यों की खोज जो स्वतः ही प्रारम्भ से ही धरा में, इस आकाश में, इस वायुमण्डल में, सागर में मानव देह में इस जीव–जन्तु व वनस्पति जगत में विद्यमान है। उन रहस्यों को खोजने के लिए विज्ञान का संहारा लिया मानव ने। लेकिन इस अल्प बुद्धि से उन रहस्यों की तनिक मात्र खोज के बाद यह भूल ही गया कि इन रहस्यों का रहस्य किस शक्ति के भीतर से प्रकट हुआ है? इसका उद्गम क्या है? इस महाप्रकृति का निर्माता कौन है? किसकी है यह प्रकृति?

भला बुद्धि से विचारिए, कि **बुद्धि स्वयं में विशाल हुई या बुद्धि का निर्माता विशाल है, जो उस प्रकार की असंख्य–असंख्य बुद्धियों का निर्माण करता है।** एक बुद्धि दूसरी बुद्धि से कुछ मेल नहीं खाती। सब अपने में विलक्षण एव विशेष प्रतिभाओं को समेटे हुए हैं। किसी मानव की शक्ल एक दूसरे से नहीं मिलती। मानव देह को ही ले लीजिए। मैं कभी–कभी चिकित्सा वैज्ञानिकों के सामने एक बाल उखाड़ कर रख देता हूँ और पूछता हूँ क्या कोई वैज्ञानिक इस बाल का निर्माण कर सकता है? क्या कोई वैज्ञानिक एक साधारण नाखून का निर्माण कर सकता है? हम चिकित्सा वैज्ञानिक यह तो जानते हैं, कि इस मानव के बाल में या नाखून में क्या रासायनिक तत्व हैं, लेकिन क्या हम उन तत्वों को मिलाकर वास्तविक मानव बाल का निर्माण कर सकते है? नाखून बना सकते हैं ! कदापि नहीं। तो इस अंधी वैज्ञानिक दौड़ में मानव यह भी भूल गया, कि इन रहस्यों को, जिनको विज्ञान के द्वारा खोज रहा है इन रहस्यों का निर्माता कौन है ? किस गर्भ से यह रहस्य निकले हैं? और किसके गर्भ में समाए हुए हैं? यदि यह मानव, बुद्धि के

द्वारा इन रहस्यों की खोज के साथ–साथ अपने आत्मानुसंधान एवं आत्म–अन्वेषण में भी कुछ समय लगाता, तो इसकी दौड़–भाग शायद सम्पूर्ण हो जाती इसी जन्म में। इसी समय इसको एक संतुष्टि मिल जाती। इन रहस्यों को उत्पन्न करने वाला शायद स्वयं ही इसको समझा देता कि वास्तविकता क्या है?

सो जानई जिस देहू जनाई, जानत तुम्हीं तुम्हई हो जाई।

तो एक खोज इसको जन्म–जन्मान्तरों में दौड़ाती रहती है। जिस प्रकार किसी का बहुमूल्य हीरा घर में खो गया हो, तो वह घर के एक–एक कमरे में, एक–एक वस्तु में छानता रहता है, ढूँढता रहता है अपने खोए हुए हीरे को। कभी–कभी उसे कोई काँच का टुकड़ा, चमकीला सा दृष्टि में आता है और उसी को वह लालायित होकर उठा लेता है। कुछ क्षण के लिए उसके हृदय में एक संतुष्टि सी मिलती है लेकिन जब इसके मिथ्यात्व का आभास होता है, तो उस काँच के टुकड़े को फेंककर इसकी दौड़ फिर शुरू हो जाती है। तो खोजते–खोजते थक जाता है, सो जाता है। फिर सुबह उठता है और फिर वही खोज आज यहाँ तो कल वहाँ।

शायद इसी प्रकार जन्म–जन्मान्तरों की मानव की दौड़ है। इसका सच्चिदानंद स्वरूप इसके सस्कारों वश और इसकी बुद्धि के दुरुपयोग के कारण कहीं खो गया है, छिप गया है। उसकी अनुभूति इसको है और उसके छिपने से यह बहुत त्रसित हो गया है, असंतुष्ट हो गया है। एक तड़पन सी इसके हृदय में व्याप्त हो गई है और यह कभी भौतिकता की ओर व कभी अति भौतिकता की ओर दौड़ना आरम्भ कर देता है। यदि विचार किया जाए, तो हम देखेंगे एक निरर्थक दौड़ द्वारा एक अंधकारपूर्ण जगत में हम कुछ विशेष ढूँढने का असफल प्रयास करते हैं, जिसको हम तथाकथित पुरुषार्थ कहते हैं। हम स्वयं को ढकने के लिए स्वयं को निष्काम कर्मयोगी और न जाने क्या–क्या संज्ञाए दे देते हैं। हम कुछ न कुछ प्रगट करते रहते हैं स्वयं को ढकने के लिए, स्वयं को समाज में अति उत्कृष्ट घोषित करने के लिए। कभी हम राजनेता बन जाते हैं, कभी बहुत बडे उद्योगपति, कभी बहुत बड़े वैज्ञानिक, कभी बहुत धनाढ्य, कभी बहुत बड़े कर्म–काण्डी तो कभी विद्वान और न जाने क्या–क्या बन जाते हैं। अन्ततः खाली हाथ इस संसार में आकर खाली हाथ लौट जाते हैं। संसार छोड़ जाते हैं। कुछ भी तो हमारे साथ न आया था, न साथ जाएगा। क्या ढूँढ

रहे हैं हम? क्यों ढूँढ़ रहें हैं हम हमारे पास तनिक भी तो समय नहीं है इस विशिष्ट विचारधारा पर चिंतन, मनन या ध्यान करने के लिए। हम दौड़ रहे हैं कुछ पाने के लिए। यदि यह दौड़ मात्र दौड़ के लिए ही होती, तो भी कोई कष्ट नहीं था। **यदि कोई खेल मात्र खेल का आनन्द लेने के लिए ही हो, तो भी कोई विचित्र बात नहीं है, बल्कि अच्छा है। लेकिन जब खेल मात्र जीतने के लिए ही हो और ऐसी जीत जिसका कोई अर्थ नहीं है, तो वही दुर्भाग्य है।**

आज भौतिक जगत में अनन्य स्पर्धाएं हैं। विज्ञान के क्षेत्र में, तकनीकी के क्षेत्र में, संगीत के क्षेत्र में, नृत्य के क्षेत्र में, कला के क्षेत्र में बौद्धिक बल, शारीरिक बल और न जाने कितने प्रकार के क्षेत्रों में। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को पछाड़ना चाहता है। कुछ क्षण के लिए वह आनन्दित सा हो जाता है, संतुष्ट सा हो जाता है, परन्तु फिर कुछ ही क्षणों बाद उसकी वही असंतुष्टि प्रकट होने लगती है और पुनः वही स्पर्धा, वही दौड़ शुरू हो जाती है। तो मेरे इस सम्पूर्ण प्रकरण का अर्थ यह नहीं है कि हम शिथिल हो जाएं। मेरा अर्थ है कि हम इस वास्तविकता को विवेक बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न करें। क्या चाहते हैं हम? क्या पाना चाहते हैं, उनको पाने के बाद हमको क्या मिलेगा? जो हम बनना चाहते है, कुछ देर के लिए कल्पना कर लीजिए हम वही बन गये हैं। तो फिर क्या हो जाएगा? क्या यही हमारे जीवन का उद्देश्य है?

यदि हमें इस निरर्थकता में निरर्थकता का आभास होता, तो भी कुछ सत्य की ओर अग्रसर होने की संभावना तो बनी रहती, लेकिन दुर्भाग्यवश हम इस निरर्थकता को ही सार्थकता मान कर चल रहे हैं। इसी को पुरुषार्थ मानकर, इसी को कर्म मानकर चल रहे हैं। इसी को कर्त्तव्य समझ बैठे हैं। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है। इसी को कहा है–**बध्य ज्ञान।** यही सबसे बडा दुर्भाग्य है। **इस सत्य का अन्वेषण एवं सत्य अनुसंधान के लिए किसी संत की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। कोई संत, कोई महापुरुष ऐसा चाहिए जो मार्ग दर्शन कर सके और बता सके कि मानव जीवन का अर्थ क्या है?**

भला विचारिए कि पंच महाभूतों से निर्मित इस संसार महानाट्यशाला के निर्माणकर्त्ता, पालनकर्ता व संहारकर्त्ता ने असंख्य वनस्पतियाँ, सागर पर्वत, असंख्य तारे, नक्षत्र, आकाश मंडल, वायुमंडल, और कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों के रचयिता ने

क्या मानव को इसलिए रचा होगा कि उसका स्वयं का कोई कार्य अधूरा रह गया होगा, जिसे वह स्वयं पूरा न कर सका होगा? क्या मानव को ऐसा कार्य करने के लिए उसने पृथ्वी पर भेजा होगा? यह विचार हृदय ग्राही नहीं होता। जंचता सा नहीं है। कोई उत्कृष्ट मानव बुद्धि भी इस विचार से सहमत नहीं होगी। तो मानव की रचना ही क्या, की गई है? मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ। प्रभु ने समस्त असंख्य भूमंडल और असंख्य ब्रह्माण्डों के निर्माण के बाद अपनी सराहना के लिए एक विशेष जीव का निर्माण किया जिसका नाम था **मानव**। उसको विशेष उत्कृष्ट बुद्धि दी ताकि वह प्रभु की महान कृतियों को थोड़ा बहुत देख सके, समझ सके और प्रभु की प्रशंसा कर सके। शायद मानव और उत्कृष्ट मानव बुद्धि के निर्माण के पीछे उस महानायक का यही अर्थ रहा होगा। लेकिन बुद्धि शक्ति को पाते ही यह स्वयं ही ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश बन बैठा, तो वही से इसका पतन शुरू हो गया। एक तुच्छ एवं अल्प बुद्धि के कृत्य में यह उलझ कर रह गया और इस प्रकार जन्म दर जन्म यह दौड़ते–दौड़ते ही अपनी जीवन लीला समाप्त पर समाप्त करने लगा।

लेकिन वह महानायक इसको अवसर देता है पुनः–पुनः कि कभी तो इसको सुबुद्धि प्राप्त होगी। कभी तो यह पुरुषार्थी बनेगा। पुरुषार्थ का अर्थ जैसा कि मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूं। पुरुष+अर्थ, अर्थात् मेरी चेतन सत्ता क्या है? मेरा सच्चिदानंद स्वरूप कहाँ है? मैं उससे बिछुड़ा सा क्यों हूँ, मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, मुझे कहाँ जाना है? इत्यादि–इत्यादि, यह परम उत्कृष्ट प्रश्न इस विवेक बुद्धि में उठने लगते हैं तो मानव का क्रिया क्षेत्र एव समस्त क्रियाएं बदल जाती हैं। उसके बाद क्या होता है? यह एक बहुत विस्तृत विषय है, जिसका उल्लेख करना यदि असंभव नहीं, तो अति कठिन अवश्य है। उसके बाद इसकी दौड़–धूप बन्द हो जाती है। विचार श्रृंखलाएं चलने लगती हैं। मानव की दौड़ बाहर की अपेक्षा भीतर की हो जाती है। बड़ा विचारणीय विषय है।

कभी जब सद्‌बुद्धि का प्रवेश होता है और मानव को अपनी दौड़ की निरर्थकता का आभास हो जाता है, तो यह निरर्थक कर्मकाण्डी से सार्थक पुरुषार्थी बन जाता है। इसका क्रिया क्षेत्र बदल जाता है और बाह्य जगत की अपेक्षा यह भीतरी जगत में प्रवेश कर जाता है और खोजने लगता है अपने

उस खोए हुए स्वरूप को सब प्रकार से, किसी भी प्रकार से, तुरन्त, उसी समय, किसी भी कीमत पर। तो वह साधारण मानव से जिज्ञासु बन जाता है। विशेष इष्ट कृपा से, प्रभु कृपा से, आत्म कृपा से व गुरु कृपा से तब इसको अपने उस स्वरूप की मात्र एक झलक सी मिल जाती है। अपने उस खोए हुए अनन्त, अति सौन्दर्यवान, ऐश्वर्यवान, ज्ञानवान, ख्यातिवान, त्यागवान एव सशक्त स्वरूप की एक झलक मात्र पाते ही यह झल्ला हो जाता है, पागल सा हो जाता है एवं मदमस्त हो जाता है। एक नशा सा हो जाता है, एक ऐसा नशा जो कभी उतरने वाला नहीं होता। अपनी उस झलक के पाने के बाद यह उसी के इर्द–गिर्द रहना चाहता है। ऐसे मानव को कहा है–**मुमुक्ष** और इस स्थिति को कहा है–**मोक्ष पद**। तो समस्त भीतरी दौड़, आत्मानुसंधान व आत्म–अन्वेषण उस मोक्ष पद में समाप्त हो जाते हैं, स्थिर हो जाता है यह। संसार की समस्त मान्यताएं सी समाप्त हो जाती हैं और समस्त मान्यताएं मात्र इसके एक स्वरूप की मान्यता में संघनित हो जाती है। मोक्ष पद की विभिन्नताएं हैं, जो मैं अपने प्रवचनों में कई बार स्पष्ट कर चुका हूँ।

भीतर और बाहर के जगत में कोई भी भेद नहीं है। जिसको हम बाह्य जगत कहते हैं, वह वास्तव में हमारे भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण ही है। जब विवेक बुद्धि द्वारा, साधना द्वारा व सत्संग द्वारा इस रहस्य का ज्ञान होता है, तो बाह्य जगत की दौड़ समाप्त हो जाती है। यह सत्य है लेकिन इस सत्य को ग्रहण करना बहुत कठिन है। अपने उस परम उत्कृष्ट, उस सच्चिदानंद स्वरूप, जो समस्त महाब्रह्माण्डों का निर्माता, पालनकर्ता एव संहारकर्त्ता है उसी को, सच्चिदानंद स्वरूप को शास्त्रों ने कहा है–**कारण शरीर**। मानव के तीन शरीरों का वर्णन है– **स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण।** तो कारण इसका ईश्वरीय स्वरूप है, सच्चिदानंद स्वरूप, जिस इसका सूक्ष्म एव स्थूल ब्रह्माण्ड आधारित है। स्थूल देह एवं समस्त स्थूल ब्रह्माण्ड जिसमें असंख्य मानव असंख्य धरातल, असंख्य वनस्पतियां, आकाश मंडल, वायु मंडल, असंख्य सागर पर्वत और सभी कुछ यह मात्र इसके एक सूक्ष्म देह का बाह्य प्रगटीकरण है।

ईश्वर एक है जीवात्मा एक है और उसका प्रगटीकरण भी एक है जो अनेक में नज़र आता है। किसी को पुण्यी, किमी को पापी, किसी को ऊँचा,

किसी को नीचा, कोई धनाढ्य, कोई गरीब, कोई आरोग्य और कोई रुग्ण, न जाने क्या–क्या सज्ञाएं दे देते हैं, अपने उस एक सूक्ष्म से प्रकट होने वाली इन असंख्य विधाओं का बहुत बड़ा रहस्य है यह। वास्तव में कारण, ईश्वर है। सूक्ष्म इसके सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का संघनित स्वरूप है। स्थूल जिसको हम अपनी देह मान लेते हैं। यह हमारे उस विस्तृत महास्वरूप का मात्र एक तनिक सा, छोटा सा अंश है।

न कोई बैरी न बेगाना, सकल संग हमको बनी आई।

जब इस परम रहस्य का बुद्धि से हटकर ज्ञान हो जाना है, तो सम्पूर्ण विश्व में हमको कोई दूसरा नज़र ही नहीं आता। कोई शत्रु नज़र नहीं आता। तो समस्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को हम अपनी एक देह में ही देखते हैं और अपनी एक देह को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में देखने लगते हैं। इसे महामानव या महापुरुष की संज्ञा दी जाती है। जब इस रहस्य का मात्र कुछ आभास मानव को होने लगता है, तो क्यों कर करेगा यह बाहर की दौड़–धूप प्रकृति के रहस्यों को जानकर यह उस प्रकृति के स्वामी की ओर झुक जाता है। वैज्ञानिकों को तो ईश्वर के और भी सान्निध्य में होना चाहिए। कोटि–कोटि उस महाब्रह्माण्ड नायक को महानायक इसलिए कहा है, कि असंख्य ब्रह्माण्डों का निर्माण, संहार एवं पालन उसका भृकुटि विलास है, मात्र तनिक सी भृकुटि उठती है, तो हज़ारों ब्रह्माण्ड नए बन जाते हैं और तनिक सी भृकुटि गिरती है, तो असंख्य ब्रह्माण्ड समाप्त हो जाते हैं, प्रलय आ जाती है। तो मानव अपनी बुद्धि द्वारा उस सच्चिदानंद परम ईश्वरीय सत्ता को नमन करे। और इस बाह्य जगत में जो कुछ भी उसके भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण है, उसको अपनी छोटी सी अल्प बुद्धि द्वारा जितना हो सके उसकी प्रशंसा करे। उसकी प्रशंसा करते–करते जब इसका स्वतः ही भीतर प्रवेश करने को दिल करे, तो अवश्य अपने भीतर जगत की ओर जाए तो कभी न कभी इष्ट कृपा से इसको इसके भीतर ही **समस्त स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण का दिग्दर्शन हो जाता है।** वहीं जाकर इसकी दौड़–धूप बंद होती है। उसके बाद भीतर और बाहर दोनों प्रकार के कर्म मात्र लीला बन जाते है। एक लीला जिसको राह कुछ पाने या खोने के लिए नहीं बल्कि आनन्द में आनन्द से खेलता है और आनन्द में ही समाप्त कर देता है। ऐसा सा इसका कर्म क्षेत्र हो जाता है और अन्ततः इसके हृदय से एक ही हूक उठती है, एक

ही आर्तनाद होती है –

"हे, महाप्रभु! मेरा कर्मक्षेत्र जो भी हो वह तुम से तुम तक हो। हे महाप्रभु, यदि मेरा कोई कर्म हो, उस कर्म का उद्देश्य मात्र यही हो कि मैं तुम्हारे पास रहूँ! तुम से तुम तक तुम्हारे पास! यदि मुझे कोई ज्ञान हो वह मात्र यही कि तुम और केवल तुम ही मेरे हो।

।। जय जय श्री राम।।

मानसिक प्रक्रियाएं

इष्ट कृपा से आज आपके सम्मुख मानसिक प्रक्रियाओं का उल्लेख करूँगा। शारीरिक और मानसिक प्रक्रियाओं में क्या भेद है क्या अन्तर है और उनकी दोनों की सीमाओं में कितना अन्तर है, जो विशेष उल्लेखनीय है। किस प्रकार मानसिक प्रक्रियाओं के द्वारा हमारे जीवन की धाराएं व प्राप्तियाँ बदल जाती हैं और मानव मोक्ष की ओर अग्रसर होता है, इसका संक्षेप में अति सरलीकरण करके आपके सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूंगा। मानव की मानसकिता के अनुसार मानव को मैंने पाँच वर्गो में वर्गीकृत किया है।

प्रथम श्रेणी के मानव वे हैं, जो ईश्वरीय सत्ता को नहीं मानते है। मेरे विचार से वो पशुवत् जीवन बिताते हैं। उनका लक्ष्य पशुओं की नाईं जन्म लेना, विभिन्न प्रकार के भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़ना, कभी सुखी कभी दुखी होना, अपने पेट के लिए व अपनी संतान के लिए जीवन के समस्त कार्यों को करते हुए अन्ततः मृत्यु को प्राप्त करना, इत्यादि–इत्यादि। ये साधारण मानव हैं, जो मात्र जीवन के लिए ही कार्य करते हुए अपना जीवन समाप्त कर लेते हैं।

दूसरे प्रकार के मानव वे हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं उनके कर्मों में कुछ उत्कृष्टता और कुछ सुन्दरता आ जाती है, यद्यपि वे भी कर्म जीवन के लिए ही करते हैं और इसीलिए ईश्वरीय सत्ता का प्रयोग करते हैं।

तीसरे वर्ग में वे मानव आते है, जिनके हृदय में यह विचार तरंगित होता है कि जीवन काहे के लिए है? उनकी मानसिकता बदल जाती है, उनके विचार बदल जाते हैं, उनके कार्यों की श्रृंखला और दिशा बदल जाती है।

उसके बाद एक और मानसिक स्तर है जिसके अनुसार मैं मानव को **चौथे स्तर पर रखता हूं। वह वर्ग न केवल ईश्वर के बारे में जानना चाहते हैं, बल्कि वे ईश्वर को जानना चाहते हैं सब प्रकार से।** यहाँ तक कि उनके जीवन का मात्र एक यही लक्ष्य रह जाता है, कि ईश्वर क्या है? वास्तविकता क्या है? उस सच्चिदानन्द का स्वरूप क्या है? उसके दिग्दर्शन का अर्थ क्या है? उसकी सान्निध्यता का आनन्द क्या है? इत्यादि–इत्यादि। जब इस प्रकार के तीव्र विचार उस महामानव के मस्तिष्क में ज्वार और भाटा की तरह उठने लगते हैं, दामिनी की

तरह कौंधने लगते हैं, तो वह साक्षात् ईश्वर को जानना चाहता है।

जैसा कि मैं अपने पहले कुछ प्रवचनों में इंगित कर चुका हूँ, कि जब वे प्रभु की विशेष कृपा के द्वारा उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो उसका मल–विक्षेप एवं आवरण स्वतः ही हट जाता है। उस आवरण के हटने के पश्चात् उसकी एक ऐसी दिन स्थिति आ जाती है, कि वह अपने सांसारिक स्वरूप को भूलना चाहता है और पुनः उसमें प्रविष्ट नहीं होना चाहता। **यह पाँचवीं वर्ग है। इसमें वे महामानव ईश्वरीय सत्ता के सामीप्य में, सानिध्य में ही रहना चाहता है और उस स्थिति को कहा है–मोक्ष।** यह अति दुर्लभ है, जो विशिष्ट ईश्वर कृपा से अति सुलभ भी हो जाता है।

मानव के यह **पाँचों वर्गीकरण, मानव की मानसिकता पर आधारित हैं।** यह नहीं कि एक वर्ग से, दूसरे वर्ग में प्रवेश करने के बाद उसकी देह में कोई परिवर्तन आ जाता है, बल्कि उसकी मानसिकता बदल जाती है। उदाहरण के लिए जैसा कि मैं वर्णन कर भी चुका हूँ, जब मानव तृतीय वर्ग में आता है, ईश्वर के बारे में कुछ जानना चाहता है, तो उसके कार्यों की सम्पूर्ण दिशा बदल जाती है। उससे पहले जब वह एक नर पशु के रूप में होता है, तो उसके समस्त कार्य पशुओं की नाईं और पक्षियों की नाईं मात्र जीवन के लिए ही होते है। जबकि ईश्वर के बारे में जानने की इच्छा उत्पन्न होते ही उस जिज्ञासु मानव के कार्यों की दिशा ही बदल जाती है और **जीवन काहे के लिए है**, इस तरफ उसके समस्त कार्यों का झुकाव हो जाता है। यह एक बहुत विचारणीय बात है, जो मैं आपके सम्मुख रखने जा रहा हूँ। भौतिक उपलब्धियों के लिए किए गए विभिन्न शारीरिक और भौतिक कार्य, मानसिक कार्य में परिवर्तित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए कोई विशेष व्यक्ति जब धन आदि अर्जन करने के लिए कार्य करता है, तो उसकी भी एक सीमा होती है और उन भौतिक शक्तियों या शारीरिक शक्तियों से परे हट कर जब वह मानसिक परिकल्पना करने लगता है, कि मैं अगाध धन प्राप्त कर चुका हूँ और उस परिकल्पना को सत्य के रूप में धारण कर लेता है तो वह स्वयं में अपने आपको इस भौतिक धन से व निधि से परिपूरित मानने लगता है। वह मानसिक स्वरूप से इतनी बड़ी किसी निधि का धारक हो जाता है कि उससे अधिक धन अथवा निधि को प्राप्त करना किसी

महामानव के भौतिक रूप से बस में नहीं होता। यहाँ पर किसी जिज्ञासु मानव की भौतिक क्रियाएं, उसकी अवधारणाओं में और उसकी मानसिकता में परिवर्तित हो जाती हैं। **तो असीम संतुष्टि क्या है?**

इसका मैं संक्षेप में आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। उदाहरण के लिए मान लीजिए, कि एक गिलास है जो पानी से थोड़ा खाली है। उस गिलास का एक निर्धारित आयतन होता है। उस गिलास की इच्छा होती है, कि मैं सम्पूर्ण भर जाऊँ और मान लीजिए, वह पूरा भर जाता है तो उसको क्षणिक प्रसन्नता होती है कि, "मैं भर गया हूँ"। यह सीमित की सन्तुष्टि है। कुछ ही क्षणों बाद वही गिलास एक बड़े लोटे को देखता है, तो उसकी इच्छा लोटा बनने की होती है। लोटा बनने के पश्चात पुनः वह ऊपर तक भरना चाहता है और उस प्रकरण के पश्चात् उसे फिर एक संतुष्टि मिलती है जो पुनः सीमित की ही सन्तुष्टि होती है। वह लोटा पुनः बड़ी बाल्टी को देखता है और इस प्रकार बाल्टी एक ड्रम को देखती है और ड्रम एक कुएँ को देखता है। मान लीजिए कुएँ बनने के पश्चात् भी वह ऊपर तक भर जाता है, जितना उसका आयतन है, तो उसको जो संतुष्टि होती है, वह भी सीमित की ही संतुष्टि है क्योंकि कुएँ की भी एक सीमा है। तो गिलास जब कुआँ बनता है, प्रत्येक रूप के परिवर्तन और उसकी परिपूर्णता के पश्चात् उसको जो क्षणिक संतुष्टि मिलती है, वह मात्र सीमित संतुष्टि होती है क्योंकि जितने भी बड़े से बड़े रूप उसने धारण किए हैं, सब अपने में सीमित हैं। अन्ततः वह गिलास अथाह सागर में कूद जाता है और कूदने के उसका आयतन भी उतना ही रहता है, जितना कि समुद्र से बाहर था, रूप भी वही रहता है, लोकन वह असीम के साथ मिलने के पश्चात् स्वयं असीम हो जाता है। उसकी क्षमता असीम हो जाती है और वह दाता बन जाता है। कितना ही उसमें से पानी निकाल लिया जाए, वह स्वयं भरे का भरा ही रहता है। **इसको कहा है असीम की संतुष्टि।**

तो भौतिक जगत में हम जितनी भी तथाकथित उन्नति करते हैं और विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति की ओर दौड़ते हैं तो किसी वस्तु की प्राप्ति के बाद जो संतुष्टि होती है, वह मात्र क्षणिक होती है और वह सीमित की संतुष्टि होती है। जब हम उन समस्त वस्तुओं को और

प्रक्रियाओं को ईश्वर समर्पित कर देते हैं, तो हमारी प्रत्येक प्राप्ति ईश्वरीय हो जाती है और उसी क्षण हमको असीम की संतुष्टि का भास होने लगता है।

जीवन के लिए किए गए भौतिक कार्य, जब मानसिक प्रक्रिया बन जाते हैं तब भी मानव अपने आपको सीमित ही पाता है। उसके बाद उसके भौतिक कार्यों की शैली बदल जाती है और वो कार्य हो जाते हैं–**जीवन काहे के लिए है**। इसके लिए किए गए भौतिक कार्य और जीवन के लिए किए गए भौतिक कार्यों के बीच में एक मानसिक प्रक्रिया की लड़ी होती है जिसका अनुभव आध्यात्मिक जीवन में कोई भी उपासक करता है। उसके बाद इसके समस्त कर्म और क्रियाएं **"जीवन काहे के लिए है"** उसकी ओर प्रेरित होती है और मानव ऐसे कार्य करने लगता है जैसे यज्ञ, हवन, जप, तप, दान, पुण्य आदि और अन्तत. यह समस्त कार्य भी थकाने वाले हैं।

आपने चार अवस्थायों का वर्णन सुना होगा–**अर्थ, धर्म, काम,मोक्ष**। भौतिक रूप से अर्थ की प्राप्ति, धर्म का अनुसरण और उसका पालन, कामनाओं की पूर्ति और जब मानव इन सबसे थक जाता है तो अन्तिम पद है–**मोक्ष**। मानसिक रूप से असीम की सन्तुष्टि तक उन कर्मों को करता है और उसके पश्चात् ईश्वर कृपा से ईश्वर के सान्निध्य का अधिकारी हो जाता है। अन्ततः उसके सान्निध्य में सदा–सदा विचरण चाहता है। विभिन्न प्रकार की मानसिक अवस्थाओं के अनुसार जब यह इष्ट के समीप रहना चाहता है, उसको कहा है–**सामीप्य मोक्ष**। जब यह उससे जुड़ कर रहना चाहता है, उसको कहा है **सायुज्य मोक्ष** और जब यह अपने इष्ट के लोक में ही विचरना चाहता है, ये भी मानसिक प्रकरण है, इसको कहा है **सालोक्य मोक्ष**। जब मानसिक रूप से अपने इष्ट का रूप धारण कर लेता है, इसको कहा है–**सारूप्य मोक्ष** और जब अपने निराकार स्वरूप में समाहित होना चाहता है, इसको कहा है–**कैवल्य मोक्ष।**

यही मोक्ष की पाँच श्रेणियाँ हैं, जो सम्पूर्णतया मानव के मानसिक स्वरूपों पर ही आधारित है और इसमें एक विशेष उल्लेखनीय और विचारणीय विषय जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ, वो यह है कि जब मानव अपने का समर्पण कर देता है, तो उसका मन ईश्वरीय हो जाता है। **मन का समर्पण अन्तिम समर्पण है, तब**

उसको इन सब भौतिक और मानसिक प्रक्रियायों से गुज़रने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। इसके द्वारा सुषुप्ति में, जागृति में, स्वप्न में अथवा तुरीया में किया गया कोई भी कार्य, भले ही भौतिक हो अथवा मानसिक, वह न केवल इसके स्वयं के बल्कि इसके सान्निध्य में आने वाले व्यक्तियों के लिए भी मोक्ष का हेतु बन जाता है। ऐसे महामानव सद्गुरु के अधिकारी होते हैं। उनका प्रत्येक निर्देश, उनकी प्रत्येक अवधारणा, किसी को भी मोक्ष तक पहुँचाने में सशक्त और समर्थवान होती है।

जैसा कि में अपने कुछ पिछले प्रवचनों में इंगित कर चुका हूँ, कि जब मानव का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वास, प्रत्येक पल, प्रत्येक इच्छा अपनी न रहकर ईश्वरीय हो जाती है, अपने जीवन पर इसका अपना अधिकार छूट जाता है। **उस अवस्था में इसका दिव्य आपा स्वतः ही प्रकट हो जाता है, क्योंकि दिव्य आपा एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसके लिए किसी भौतिक उपलब्धि एवं प्रक्रिया की कोई भी आवश्यकता नहीं होती।**

दिव्य व्यक्तित्व में कुछ उल्लेखनीय बातें हैं, जो आपके सम्मुख रखना चाहूंगा, कि जब मानव को सत्संग द्वारा, संतों द्वारा और विशिष्ट ईश्वरीय कृपा द्वारा अपने भीतर समाहित इस विशिष्टतम् व्यक्तित्व का अनुभव या ज्ञान हो जाता है, तो उसके प्रगटीकरण के लिए ईश्वर ने कई प्रकार के प्रकरण दिए हैं। जिसके कुछ विचारणीय बिन्दु मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ–

प्रथम–बौद्धिक चिंतन द्वारा बौद्धिक कि 'जीवन काहे के लिए' है? जब यह चिंतन होता है तो, मानव जिज्ञासु हो जाता है। चिंतन के बाद मनन, मनन के समय बुद्धि स्थिर हो जाती है। **मनन मन द्वारा होता है, चिंतन बुद्धि द्वारा होता है।** जब मानव मन किसी बात की स्वीकृति दे देता है, तो वह स्वीकृति अपने में पर्याप्त नहीं होती, तब होता है उसका **नित्याध्यासन**। **नित्याध्यासन कहा है, कि नित्य उसका बार–बार मनन करना कि यही सत्य है, यही सत्य है, यही सत्य है।** नित्याध्यासन के बाद ध्यान। **ध्यान एक अंतिम अवस्था है।** वह समस्त प्रकरण जब इसके ध्यान में उतर जाता है तो चिंतन व मनन पीछे छूट जाते हैं।

दूसरा–दिव्य व्यक्तित्व प्रकट करने के लिए कुछ लोग कर्मकाण्ड का सहारा लेते

हैं, जिसमें यज्ञ, जप, तप, हवन, दान, पुण्य आदि–आदि असंख्य कर्मों की श्रृंखलाएं हैं लेकिन उनकी दिशा विशिष्ट भौतिक उपलब्धियों की ओर अधिक होती है।

तीसरा–कुछ मानवों के संस्कारों में इस कर्मकाण्ड का अनुसरण करने के संस्कार नहीं होते। ऐसे मानव जीवन के लिए किए गए जो कार्य हैं, उन्हीं को वे निःस्वार्थ करने लगते हैं। तो वे सारे कार्य मानव सेवा के अंतर्गत आ जाते हैं। **सेवाभाव के अंतर्गत किए गये कार्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए आशीर्वाद व वरदानों से उसका कभी न कभी दिव्य आपा प्रकट हो जाता है।** चिंतन, मनन, कर्मकाण्ड और मानव द्वारा की गई सेवा इन सबमें देह का कहीं न कहीं हस्क्षेप अवश्य रहता है।

चौथा–कुछ मानव योग सिद्ध होते हैं, वे लययोग में प्रवेश कर जाते हैं और अपनी देह को ही लय कर देते हैं, ध्यान द्वारा। वह भी मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें देह को समूल हटा दिया जाता है। अपनी देह को स्वयं ही मृतक घोषित करते हुए, उसको चिता में लिटा कर , उसका दहन किया जाता है और स्वयं भस्मी में परिणत होकर उस भस्मी को गंगा, यमुना इत्यादि में प्रवाहित कर दिया जाता है। यह एक मानसिक स्थिति है, जिसको कहा है–**'एकान्त', एक+अंत,** जिसमें एक मानव देह का सम्पूर्ण अंत हो जाता है और उसके बाद जो मानसिकता शष रह जाती है उस स्थिति को कहते है–**'एकान्त'।** उस एकान्त में उसका दिव्य आपा स्वयं जाग्रत हो जाता है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हू **कि दिव्य आपा एक मानसिक स्थिति है, जिसके द्वारा मानव का सीधे 'परम सत्य' से सम्पर्क हो जाता है।** उसमें ज्ञान, अथवा भक्ति, उसके संस्कारों के अनुसार स्वतः ही प्रकट हो जाती है। दिव्य आपा प्रकट करने का **पांचवां स्वरूप** भी है–कुछ मानव मात्र इन्द्रियों के सुखों के लिए ही लालायित रहते हैं और वे योग साधना द्वारा गुरु एवं इष्ट कृपा द्वारा, इन्द्रियों के भोग से मिले हुए सुख को न प्राप्त करके, अपनी प्राणगतियों का निरोध कर किसी भी प्रकार से अतिद्रिन्य आनन्द को जाग्रत कर देते हैं, जो कि कठिन प्रकरण है। वे भी अपने दिव्य आपे को अथवा दिव्य व्यक्तित्व को प्रकट कर सकते हैं। ये पांच प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण, पांच प्रकार के मोक्ष और ये पांच प्रक्रियाएं हैं, जो मानव के दिव्य व्यक्तित्व को प्रकट करने

के लिए सहायक हैं। कोई भी किसी प्रकार से आपने दिव्य आपे को प्रकट कर सकता है।

यहाँ मैं एक बात का उल्लेख करना चाहूंगा कि मानसिक प्रक्रियाएँ, देह की प्रक्रियाओं से अधिक शक्तिशाली होती हैं और यदि उसी मानव मन को ईश्वरीय मन में विलीन कर दिया जाए तो वे और भी असंख्य गुणा शक्तिशाली हो जाती हैं। वास्तव में मन ओर माया इश्वरीय शक्तियाँ हैं और वे सच्चिदानन्द ईश्वर अपनी इस माया एवं मन के संयोग से ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उत्पत्ति करते हैं। **ब्रह्मा समस्त कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों की रचना करता है, विष्णु पालन तथा शंकर संहार करता है।** यह समस्त प्रकरण मन और माया के संयोग से ही होते हैं, जो कि पूर्णतया ईश्वरीय शक्तियाँ हैं। इनको बस में करना और इनको बस में करने का विचार भी मिथ्या विचार है, निरर्थक विचार हैं, जो न केवल कठिन है, बल्कि असम्भव है। ईश्वरीय मन और ईश्वरीय माया के सम्मुख घुटने टेक दीजिए। एक अबोध बालक की तरह रुदन करिए, बल–बुद्धि–विद्याहीन, असमर्थ और अशक्त होकर। जहाँ तनिक भी हमको अपनी दैहिक भौतिक और मानसिक शक्तियों का अभिमान होगा, वही हम कभी भी अपने दिव्य व्यक्तित्व को प्रकट कर ही नहीं सकते। सच्चखण्ड, एक ऐसी मानसिक स्थिति है जब मानव मन ईश्वरीय मन में पूर्णतया परिणत हो जाता है। वहीं पर अपने द्वारा किए गए किसी भी जप–तप, यज्ञ–हवन, दान–पुण्य इत्यादि किसी भी चीज़ का लेशमात्र भी अहम् नहीं होता। उसे कहा है–**'समर्पण का समर्पण'**। जब कोई महामानव उस सच्चखण्ड में, उस विशेष मानसिक क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है, तो उसके पश्चात् किसी–किसी अति सौभाग्यशाली मानव को उस अन्तिम सत्य की मात्र एक झलक प्राप्त होती है और वह झलक उसको वास्तव में पागल सा और झल्ला सा बना देती है। वो मानसिक स्थिति जो इसको एक झलक प्राप्त करने के बाद मिलती है, वह अनिर्वचनीय है। वाणी जिसको बयान नहीं कर सकती, बुद्धि जिसको सोच नहीं सकती, शब्दों में जिसको लिखा नहीं जा सकता।

तो मानसिक प्रक्रियाओं के बारे में जो मैंने इष्ट प्रेरणा से वर्णन किया है, इस पर आप गम्भीरता से विचार करें और अपने इष्ट के सम्मुख बैठ कर इनका मनन करें,

नित्याध्यासन करें, ध्यान करें और उसी के अनुसार अपनी समस्त भौतिक प्रक्रियाओं को परिवर्तित करें, तो एक न एक दिन आप अवश्य उस परम सत्य की झलक पाने में समर्थ हो जाएगे।

।। जय जय ही राम।।

ईश्वरीय ध्यान

आपके सम्मुख अति उत्कृष्ट विषय जो मैं प्ररस्तुत कर रहा हूँ उसका शीर्षक है **'ईश्वरीय ध्यान'।** ध्यान क्या है? कैसे होना है? ध्यान का क्या लाभ हैं? ध्यान की सरलत के लिए क्या किया जाए? इत्यादि बहुत से इसके पहलू व इसकी विधाएँ हैं, जिनका विवेचन इस प्रवचन में करने की कोशिश करूँगा। बहुत से लोग अक्सर यह प्रश्न करते हैं, कि ईश्वर का ध्यान करते समय बहुत विक्षेप हो जाता है, ध्यान नहीं लगता, ध्यान कैसे लगाएं? वगैरह–वगैरह। प्रायः साधकों के साथ यह एक मुश्किल है। कुछ लोग संकोचवश इसको पूछते नहीं है, जबकि कुछ लोग निःसंकोच इसको पूछ लेते हैं।

अपने एक पिछले प्रवचन में मैंने मानव–जाति को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पाँच विभिन्न प्रकारों में विभाजित किया। **प्रथम** और निकृष्ट वर्गीकरण में संसार के वे मानव आते हैं **जो ईश्वरीय सत्ता को मानते ही नहीं हैं।** जैसे पशु–पक्षी नहीं मानते, वैसे वे भी ईश्वर को नहीं मानते। **द्वितीय वर्ग** में वे लोग आते हैं, जो ईश्वरीय सत्ता को मात्र भौतिक प्राप्तियों के लिए ही मानते हैं और **तीसरे वर्ग** में वे लोग आते हैं, जो ईश्वर को मानते भी हैं और उसके बारे में कुछ न कुछ जानना भी चाहते हैं। इस वर्ग में जिज्ञासु मानव भी आ जाते हैं, जो विभिन्न प्रकार के मनन, चिंतन, ध्यान और श्रवण इत्यादि के द्वारा उस परम पिता परमेश्वर के बारे मे कुछ न कुछ जानना चाहते हैं। **चौथा वर्ग** उन लोगों का है, उन महामानवों का है, जो ईश्वर के बोर में नहीं, बल्कि साक्षात् ईश्वर को जानना चाहते हैं। उसका साक्षात्कार चाहते हैं। वहाँ पर श्रवण, चिंतन, मनन इत्यादि प्रक्रियाएँ अपना अस्तित्व खो देती हैं। ऐसे महामानवों के लिए कहा गया है, कि वे पृथ्वी से ऊपर उठकर चलते हैं। जब एक विशेष अत्याधिक जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, तो उस समय पृथ्वी का कोई भी प्रलोभन अथवा भौतिक पदार्थ ऐसे व्यक्तियों को आकर्षित नहीं कर सकते, न कामिनी न कंचन, न पृथ्वी के अन्य भोग। इसीलिए कहा गया है कि ये लोग पृथ्वी से उठकर चलते हैं। इनके पाँव पृथ्वी पर नहीं लगते। इनका प्रत्येक श्वास, प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण और इनके प्राण की प्रत्येक गति मात्र ईश्वरमय हो जाते हैं। ईश्वर के लिए हो जाते हैं। तो **पाँचवा** और अन्तिम वर्ग उन लोगों का है जो ईश्वर को

जानने के पश्चात् उसके तद्‌रूप हो जाते हैं, उन लोगों को कहा है–**मुमुक्षु**। तो विभिन्न प्रकार के मोक्ष हैं, जो उनके संस्कारों के वश और भावों के वश उनको प्राप्त हो जाते हैं। ईश्वरीय ध्यान का प्रकरण तीसरे वर्ग से शुरू होता है, कि जो लोग ईश्वर को मानते भी हैं और उसके बारे में जानना भी चाहते हैं। यदि आप शास्त्रीय विषय में जाएंगे तो यह बहुत जटिल हो जाएगा, लेकिन यदि इसको सरल किया जाए, तो मैं समझता हूँ, कि ईश्वर के ध्यान में तीन बातों की आवश्यकता है–

प्रथम– ईश्वर की मान्यता ईश्वर को माना जाए, कि ईश्वर है और **दूसरा**–उस **ईश्वरीय सत्ता को किसी भी नाम अथवा रूप में मान लिया जाए,** क्योंकि हम सांसारिक मानव अपने सम्बन्धों को, अपनी वस्तुओं को और अपनी विभिन्न उपलब्धियों को एक नाम देते हैं, एक रूप देते हैं और उसको सम्बोधित करते हैं उसी नाम व रूप से। ऐसा हमारा जन्म–जन्मातरों से अभ्यास चल रहा है। तो क्यों न उस ईश्वरीय सत्ता को भी अपनी पसन्द का, अपने सम्बन्धोंवश एवं भावोंवश कोई नाम व रूप दे दिया जाए, जो हमे अति सुन्दर लगे। जिसमें ध्यान करने में हमको कोई दुविधा न हो और तीसरे उस विशिष्ट नाम व रूप जिसमें हमने उस ईश्वर को माना है, उसके साथ सम्बन्ध बना लिया जाए। क्योंकि हम मानवों को एक आदत है, एक अभ्यास है, कि जहाँ हमारा सम्बन्ध होता है, वहीं हम ध्यान देते हैं। जहाँ सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ हम सुनी–अनसुनी कर देते हैं, अनदेखी कर देते हैं। वहाँ हम व्यवहार नहीं करना चाहते। तो यदि इन सहज मानविक वृतियों को अपने ईश्वरीय ध्यान में उतार लें तो हम बहुत शीघ्र और बहुत सुलभता से, सहजता से, ईश्वर का सान्निध्य पा सकते हैं। ऐसा मेरा अनुभव एवं विश्वास है।

जैसा कि मैं अपने कुछ पिछले प्रवचनों में वर्णन कर भी चुका हूँ, कि हमारे महाऋषियों ने, मनीषियों ने, बुद्धिजीवियों ने इस मानसिकता को अति सरलीकृत करने के लिए ईश्वर को किसी भी नाम व रूप में मानने के लिए बहुत सहज उपाय दिया है। यदि आप वनस्पतियों से प्रेम करते हैं, पेड़ों से, पौधों से प्रेम करते हैं, तो आप ईश्वर को **पीपल नारायण** या किसी अन्य पेड़–पौधे के रूप में मान सकते हैं। यदि आपको पक्षियों से बहुत प्रेम है, तो आप ईश्वर को **गरूड़ भगवान** इत्यादि के रूप में मान सकते है। यदि आपको नदियों और धाराओं से प्रेम है, तो ईश्वर को

गंगा, यमुना मैया के रूप में मान सकते हैं। यदि आपको ग्रहों, उपग्रहों से प्रेम है तो आप ईश्वर को **सूर्य–भगवान, चन्द्र भगवान** के रूप में मान सकते हैं। यदि आपको विभिन्न प्रकार के पत्थरों से प्रेम है, तो आप ईश्वर को **शिवलिंग** के रूप में मान सकते हैं इत्यादि–इत्यादि। विभिन्न प्रकार के रंगों का चुनाव भी दिया है।

कहने का अर्थ यह है कि आप अपने भगवान को किसी एक नाम व रूप में मान लीजिए और वही आपका इष्ट है। आपका इष्ट आपके लिए सर्वोपरि है और विशिष्ट ईश्वरीय सत्ता सम्पूर्ण उसी में निहित रहती है, यह मानना अति आवश्यक है। यही एक बात और मैं अपने अनुभव से स्पष्ट करना चाहूंगा, यह कोई संकीर्णता का विचार नहीं है। उस नाम व रूप में ईश्वर को मानने के बाद जब उपासना परिपक्व हो जाती है, आपके ध्यान के द्वारा, तो अन्त में आपको अपना इष्ट एक नाम असंख्य रूप, एक रूप असंख्य नाम और असंख्य नाम असंख्य रूपों में चहुँ ओर नज़र आने लगता है। उसी का आभास होने लगता है। उसी का दिग्दर्शन होने लगता है। ऐसा हो जाता है उपासना की परिपक्वता के बाद। ध्यान के लिए जो बहुत सरल उपाय है वो आपके सम्मुख रख रहा हूँ। यद्यपि जो मैं वर्णन कर रहा हूँ मात्र यही उपाय नहीं हैं, अन्य भी हैं, लेकिन यह अति सरल उाााय है, जो स्वयं मुझे बहुत सरल लगा। जब ये तीन धारणाएँ परिपक्व हो जाती हैं, तो उसके बाद ध्यान योग बहुत सरल हो जाता है और ईश्वरीय सम्बन्ध होने के बाद यह स्थिति आ जाती है, कि साधक बहुत शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।

सिद्धि क्या है? जब किसी भी ईश्वरीय सत्ता को साधक सिद्ध कर लेता है कि ईश्वरीय सत्ता यही है और उसमें उसका प्रभाव मिलने लगता है, उसकी धारणा से, उसके ध्यान से, उसको कहा है सिद्धि। तो यह एक व्यवहारिक मार्ग मैं आपके समुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। न केवल आजकल बल्कि प्राचीन काल से ही कुछ लोग निराकार के ध्यान में, निराकार की उपासना में रुचि रखते हैं और उसका प्रचलन है। यहाँ एक बात मैं विशेष स्पष्ट करना चाहूँगा, कि मैं ईश्वर की निराकार सत्ता को ह्रदय से मानता हूँ, नकारता नहीं हूँ, लेकिन यदि आप ईश्वर की निराकार सत्ता का ध्यान करना चाहते हैं, तो आपको स्वयं भी निराकार होना अति आवश्यक है। **हम स्वयं साकार है, हमारा एक रूप है, नाम है,**

एक अस्तित्व है। हम स्वयं अपने साकार रूप से ईश्वर के निराकार रूप की उपासना कतई नहीं कर सकते। यह एक नितान्त सत्य है। ऐसा प्रयत्न करने वाले अन्ततः अपना समय ही व्यर्थ करते हैं। उनको कुछ उपलब्धि की जगह कुछ हानि अवश्य होती है। मानसिक रूप से वे विक्षिप्त हो सकते हैं, उनमें कुतर्क भाव बढ़ जाते हैं, भ्रमित हो जाते हैं वे। अब आप पूछेंगे कि हम स्वयं अपने निराकार स्वरूप में कैसे आएं? यह एक अति दुस्तर, अति कठिन कार्य है। मैं एक उदाहरण देकर आपको समझाने का प्रयत्न करूँगा।

बड़ा विचारणीय विषय है कि, **'जब मैं सो रहा होता हूँ, तो मैं होता हूँ, लेकिन मैं अपने नाम व रूप के अस्तित्व से कोसों दूर होता हूँ।'** उस समय न कोई पत्नी न पति, न सम्बन्ध, न कोई सम्पदा, न पद न नाम, न यश। जो–जो वस्तुएँ, जो–जो उपलब्धियाँ, जो–जो भौतिक पदार्थ हमारे नाम व रूप से सम्बन्ध रखते हैं, वे कुछ भी नहीं होता, लेकिन हम होते हैं और वही उस समय हमारा निराकार स्वरूप होता है। यदि हम जागृति में अपनी ऐसी मानसिक अवस्था में आ जाएं, कि हमें अपने चेतन स्वरूप का आभास तो हो, लेकिन हमारे नाम व रूप का अस्तित्व समाप्त हो जाए। लययोग द्वारा या अन्य प्रकरणों द्वारा, तो वह हमारी निराकार स्थिति है, निराकार स्वरूप है। केवल उसी स्वरूप में विचरने के बाद हम निराकार ब्रह्म की उपासना कर सकते हैं। तो बहुत संक्षेप में आपके सम्मुख मैंने यह कठिन विषय रखा है। इसलिए सरलतम उपाय, ईश्वर की साकार रूप की साधना या उपासना का ही है।

जब हम ईश्वर के साथ किसी भी सम्बन्ध से जुड़ जाते हैं, तो उसके साथ, उसी सम्बन्ध में, उसी नाम व रूप में हम बैठना शुरू करते हैं, वार्तालाप शुरू करते हैं, अपने हृदय की बातें करते हैं। यह एक अगाध विश्वास का विषय है। आप सोचेंगे कि वह पत्थर का विग्रह या मूर्ति या फोटो उससे कैसे बातें की जाएं? तो कुछ क्षण के लिए आपको बुद्धि से परे होना पड़ता है। जितना भी ईश्वरीय मार्ग है, इसमें मानव बुद्धि की कोई भूमिका नहीं है, क्योंकि हमारी बुद्धि की और हमारी शारीरिक शक्तियों की एक सीमा है और ईश्वर असीम है। यदि हम उस असीम का ध्यान करना चाहते हैं तो हमें अपनी सीमित बुद्धि एव भौतिक शक्तियों से परे हट कर चलना पड़ेगा।

हमको संसार की वस्तुओं से एवं व्यक्तियों से मोह हो जाता है और यह सब कुछ यहाँ तक हमारी देह भी नश्वर है। न जाने कब, कौन किसी का साथ छोड़ दे? तो क्यों न अपने अन्दर की मोह वृत्ति को किसी ऐसी सत्ता से लगाया जाए, कि जो अविनाशी हो और वह सत्ता मात्र ईश्वरीय है जिससे वह मोह जन्म–जन्मातरों तक सुरक्षित रहता है। साधक जब नित्याध्यासन, चिंतन व मनन करते–करते उस अपने इष्ट के विग्रह को सदा चेतन देखना है, तो एक दिन उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है। न केवल उसको बल्कि वह विग्रह भी सिद्ध हो जाता है। आपने सुना होगा कि किसी प्राचीन मन्दिर में अमुक विग्रह सिद्ध है, तो उस सिद्धि के पीछे भी यही अभिप्राय है, कि वहाँ उसी विग्रह से एक साधारण व्यक्ति भी कुछ न कुछ अपने मनोभाव के अनुसार पा लेता है, यदि वह कुतर्क को छोड़ श्रद्धा से जाए। तो वे स्थान तीर्थ बन जाते हैं, वे मन्दिर, वे विग्रह सिद्ध हो जाते हैं।

ईश्वरीय ध्यान के लिए एक अनुभव आपके आगे रख रहा हूँ। जब हम अपने इष्ट के सम्मुख बैठते हैं, तो वहाँ पर सुगन्धि, धूप, दीप, नेवैद्य आदि चढ़ाते हैं, शखनाद, घटनाद व कुछ कीर्तन–भजन करते हैं, तो ये सारे प्रकरण मात्र इष्ट में हमारी मानसिक एकाग्रता के लिए, एक विशेष वातावरण उत्पन्न करने के हेतु किए जाते हैं। इन समस्त प्रकरणों का, स्वयं ईश्वरीय ध्यान से कोई अधिक सम्बन्ध नहीं है। आप मुझसे सहमत होंगे, कि विशेष उद्देश्य से किसी विशेष व्यक्ति को जब हम अपने घर में आमंत्रित करते हैं, तो उसी के अनुसार हम अपने घर की साज–सज्जा करते हैं और घर का वातावरण उसी के अनुसार बनाने का भरसक प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार ईश्वरीय ध्यान के लिए, यह समस्त प्रकरण एक विशिष्ट वातावरण को उत्पन्न करने का साधन मात्र है।

जब हम कोई भजन पढ़ते है और नित्य उसी को पढ़ते हैं, तो मेरे अनुभव से वह विशिष्ट ईश्वरीय ध्यान में बाधा है, क्योंकि यदि हम अपने किसी घनिष्ठ सगे–सम्बन्धी से बात करते हैं, तो नित्य एक ही बात तो नहीं करते। उस समय के अनुसार उस समय की मानसिक स्थिति के अनुसार, उस समय के हमारे भावों के अनुसार हम अपने स्वजन से भिन्न–भिन्न बातें करते हैं। भिन्न–भिन्न भाव व्यक्त करते हैं। कभी रोष जताते हैं, कभी प्रेम जताते हैं, इत्यादि–इत्यादि। तो इसी प्रकार

आपका इष्ट जो आपका सम्बन्धी भी है, जब आप उसके सम्मुख बैठते हैं, तो उस समय विशेषकर अपने मानसिक वातावरण व अपने भावों के अनुसार ही उससे बातचीत करिए। इससे बहुत शीघ्र ध्यान लग जाता है।

जब ईश्वर में मान्यता, नाम व रूप में मान्यता और उसके साथ कोई सम्बन्ध बन जाता है, तो हमको विभिन्न प्रकार के मनन, चिंतन, प्रवचन, श्रुतियाँ, श्रवण इत्यादि इन सबकी आवश्यकता नहीं पड़ती। **हमारी मान्यता की कितनी दृढ़ता है इस पर निर्भर करता है हमारा ध्यान। यदि हमारा ध्यान उस विग्रह के सम्मुख नहीं लगता, तो इसका एक बहुत सीधा अर्थ यह है कि हमने उसको अभी तक माना ही नही है।** आपका जो भी भौतिक व मानसिक स्तर हो, परन्तु जब ईश्वर से सम्बन्ध हो जाता है, मान्यता दृढ़ हो जाती है अटूट एवं अखण्ड विश्वास हो जाता है, तो उसके बाद ईश्वरीय ध्यान की अनुभूतियाँ आपकी एक व्यक्तिगत सम्पदा बन जाती है। उसके पश्चात् उन सब बातों को किसी के सम्मुख प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस सम्पूर्ण प्रकरण में भ्रमित होने का कोई लेशमात्र भी स्थान नहीं है। जहाँ भ्रम हुआ, वहीं ध्यान का महात्म्य समाप्त हो जाता है।

जब आप अपनी सम्पूर्ण मान्यता एवं सम्पूर्ण विश्वास अपने इष्ट में और इष्ट के एक सम्बन्ध में, कर लेते हैं तो उसके बाद इष्ट कृपा से व आत्म कृपा से आपको विभिन्न प्रकार की ईश्वरीय अनुभूतियाँ होनी शुरु हो जाती हैं। यद्यपि उन अनुभूतियों से आपको कोई सरोकार नहीं होता। आपको उन अनुभूतियों की कोई आकांक्षा भी नहीं होती। क्योंकि आप मात्र इष्ट का सानिध्य चाहते हैं उसका मोह चाहते हैं। लेकिन **जब ईश्वर से वास्तव में मोह हो जाता है, तो ईश्वर अपने स्वरूप का दिग्दर्शन व प्रगटीकरण अपने उपासक को अवश्य कराते हैं।** यह बात बड़ी विचारणीय और अनुभव की है।

सो जानई जिस देहू जनाई, जानत तुम्हीं तुम्हीं हो जाई।

तो ईश्वरीय सत्ता उस विशिष्ट नाम व रूप से, उस विशिष्ट सम्बन्ध से अपने उपासक को अपने परम गहन रहस्य का अनुभव कराने लगती है, समझाती नहीं, क्योंकि यह समझ का विषय नहीं है। जहाँ तक हमारी समझ काम करती है, वह

ईश्वरीय अनुभव नहीं हो सकता, मात्र मानवीय होगा, क्योंकि समस्त ईश्वरीय अनुभव बुद्धि से परे है। **बुद्धि का अधिकतम सदुपयोग यह है कि हम यह सोच लें, हमारे बस में कुछ भी नहीं है। न जन्म, न मृत्यु न जीवन और न जीवन का कोई पहलू। अगला आने वाला श्वास भी तो हमारे हाथ में नहीं है।** जब इष्ट में यह समर्पण भाव हो जाता है कि हे प्रभु! मेरा कर्म, मात्र इतना हो, कि सब प्रकार से मैं तुम्हारे साथ रहूँ। कोई भी ऐसा कर्म, कोई भी ऐसा धर्म जो मुझे तुमसे परे लेकर जाए, जो मेरे और तुम्हारे बीच में दरार डाल दे, तो उस कर्म या धर्म से मैं तुरन्त छुटकारा पा लूँ और **मेरा कर्म क्षेत्र तुमसे तुम तक और ज्ञान हो तो मात्र यह कि तुम्हारे साथ मेरा अमुक–अमुक सम्बन्ध है।** तो इस **त्रिवेणी पर ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग** का संगम हो जाता है। बहुत छोटा सा स्वरूप हो जाता है इस महात्रिवेणी का, जहाँ पर यह तीनों योग मिल जाते हैं और एक अगाध आनन्द का प्रस्फुटन होता है साधक के हृदय में। उसको अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की झलक मिल जाती है। कितना सरल उपाय है ईश्वरीय ध्यान का। यदि हम इस सत्य को और इस मानसिक सहजता को ईश्वरीय सम्बन्धों में परिणत करके अगाध विश्वास और श्रद्धा के साथ नित्याध्यासन करें, तो एक न एक दिन हमको अवश्य ईश्वरीय सान्निध्य प्राप्त हो जाता है और उसके बाद क्या–क्या होता है यह अनिर्वचनीय पद है जो मानव बुद्धि से सोचा नहीं जा सकता व जिसको लिखा नहीं जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि ईश्वरीय ध्यान के लिए जो सर्वोत्तम और सर्वोत्कृष्ट भाव है, वह है ईश्वर में मान्यता, नाम व रूप में मान्यता और उसके साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध। तो इन तीनों के उत्पन्न हो जाने के बाद ध्यान अति सरल हो जाता है अति सुगम हो जाता है। यह बहुत सरल उपाय मैंने आपके सामने अपने अनुभव के अनुसार प्रस्तुत किया है। आशा है कि इस मार्ग द्वारा आप ईश्वरीय ध्यान योग बहुत सरलता से, सहजता से और शीघ्रता से कर सकते हैं, बढ़ा सकते हैं व प्राप्त कर सकते हैं।

।। जय जय श्री राम।।

भस्मी–योग

बहुत रोचक, अति वैराग्यपूर्ण, अति ऐश्वर्यपूर्ण एवं परिपूर्ण विषय प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसका नाम है–**'भस्मी योग'।** आप सब मुझसे सहमत होंगे, कि कोई भी उपासक अपने तीव्रतम मानसिक हार्दिक व शारीरिक वेग द्वारा यह जानने के लिए कि, प्रभु कहाँ हैं, कैसे मिलेंगे, उनका स्वरूप कैसा होगा? व्याकुल हो जाता है, उसमें अपने इष्ट को मिलने की तड़पन उत्तरोतर बढ़ती रहती है, बढ़ती रहती है। जीवन की प्रत्येक उपलब्धि को वह नकार सा देता है। कोई भी भौतिक पदार्थ उसको अच्छा सा नहीं लगता। एक अन्तर्निहित विचारों की श्रृंखला, जिसको वह सबके सम्मुख प्रकट भी नहीं कर सकता। एक अन्तः खोज सी निरन्तर बनी रहती है, जागृति में, सुषुप्ति में, तुरीया में, समाधि में और सभी जीवन की अवस्थाओं में कि, 'मेरा खोया हुआ यार मेरा इष्ट कहाँ है?' अटपटा सा व्यवहार होता है ऐसे लोगों का। खोए–खोए से रहते हैं, सब कुछ होते हुए भी। कई बार तो समस्त जीवन समाप्त हो जाता है और अपने प्यारे का दिग्दर्शन नहीं हो पाता। काल के अन्तराल में जीवन लीला समाज हो जाती है लेकिन अन्तर्यात्रा की वह खोज समाप्त नहीं होती।

फिर यह शव बनता है, शव बनकर भी इसकी अपने प्यारे की अपने इष्ट के दर्शन की तीव्रतम इच्छा बनी रहती है और बाद में महाग्नि इसको भस्मित कर देती है। चिता की भयानक उठती हुई लपटें कुछ ही क्षणों में इसको भस्मी में परिवर्तित कर देती है। लेकिन उस भस्मी में परिवर्तित होते ही जब इन पाँच महाभूतों जल, तेज, वायु, आकाश और पृथ्वी से निर्मित काया की एक मुट्ठी सी बनी हुई, जब खुल जाती है, तो पाँचों महाभूत अपनी–अपनी स्थितियों में विलीन हो जाते हैं। अग्नि, अग्नि में, जल, जल में वायु, वायु में, आकाश, आकाश में और पृथ्वी का तत्व, पृथ्वी पर ही रह जाता है, जिसे हम कहते हैं– **भस्मी**। तो भस्मित होने के पश्चात् इस उपासक को अपने इष्ट की याद नहीं छोड़ती। एक ऐसे पृथ्वी के तत्व में यह विलीन हो जाता है, परिवर्तित हो जाता है जो धर्मातीत, कर्मातीत, कर्त्तव्यातीन देशातीत, कालातीत और सब प्रकार के प्रपंचों से विमुक्त होता है। शायद उस समय वह सर्वोत्तम अवसर होता है, जबकि वह निश्छल भाव से अपने इष्ट का आह्वान कर सके जो मैं वर्णन कर रहा हूँ, यह मात्र कल्पना नहीं है। एक उपासक के भावों के अनुसार

वह शिव से शव और शव से भस्मी तक उतर आता है अपने इष्ट का, अपने प्यारे का सान्निध्य और दिग्दर्शन पाने के लिए। एक वही ऐसी अवस्था होती है, जब इसके बहुत घनिष्ठ सम्बन्धी जो दिन–रात इसको घेरे रखते हैं और इसका अपना होने का दावा करते हैं, इसके साथ जीने और मरने की कसमें खाते हैं। वे तिनके तोड़कर अपना सम्बन्ध सदा–सदा के लिए इससे विच्छेद कर इससे दूर चले जाते हैं। इसको ज्ञान होता है, कि इसकी भरी एक छोटी सी पोटली में डालकर किसी दूर मंदिर में या किसी शिवालय में रख दी जाएगी और पुनः इसको किसी पवित्र नदिया में, किसी पर्वत पर या किसी सागर में इसके सगे–सम्बन्धी डाल आएंगे और फिर सब कुछ समाप्त हे जाएगा। वही भस्मी अपने प्यारे को याद करती है

कि **हे प्रभु! मैं अब सबसे बिछुड़ चुका हूँ। जो मेरे थे, वे मुझ से सबन्ध तोड़ कर दूर चले गए। मेरी देह भी मुझ से दूर हो गई है। इस समय मेरा न कोई कर्म है, न कोई धर्म न कोई बन्धन, न मेरा कोई है, न मैं किसी का हूँ। सभी ने तिनके तोड़ दिए हैं। प्रभु! इस अवस्था में मैं तुम से पूछना चाहता हूँ, क्या तुमने भी मुझसे तिनका तोड़ दिया है?"** तिनका तोड़ना एक रिवाज है जिस समय एक मृतक की कपाल क्रिया होती है चिता में जलते हुए, तो उसके सगे–सम्बन्धी तिनका तोड़ कर अपने सिर से पीछे फेंक देते हैं और उस व्यक्ति के साथ सदा–सदा के लिए अपना सम्बन्ध विच्छेद कर देते हैं। उस समय इसी भस्मी आर्तनाद करती है।

'प्रभु। मेरे पास समय बहुत कम है। यह काले–काले बादल आकाश मंडल में छाए हुए हैं, वर्षा की चार बूँदें मुझे बहाकर न जाने कहाँ से कहाँ ले जाएं? यह पवन का वेग मुझे उड़ा कर न जाने किन–किन दिशाओं में ले जाए? इससे पहले कि मैं स्वयं कण–कण खंडित हो जाऊं। मैं तुन्हारा आह्वान करता हूँ। मेरे पास आओ और मुझे छुओ अपने चरणों से।' तुम्हारा यह स्पर्श मुझे मुक्ति दे देगा। एक असीम की संतुष्टि और शान्ति दे देगा। शायद तुम्हारा स्पर्श पाते ही मैं दिव्य देह में परिवर्तित हो जाऊँ। ऐसी देह जो सदा–सदा मुदिता और हर्ष में, उल्लास में ओत–प्रोत हो, एक मस्ती, शक्ति, भक्ति अभय, आरोग्यता, सर्व–सम्पन्नता और तुझसे और केवल तुझसे मोह और तुम्हारी कृपा,सम्पूर्ण आनन्द के सागर से परिपूर्ण हो। यह समस्त

विभूतियों का सागर केवल मेरे लिए हो। ऐसी दिव्य देह, मैं तुम्हारा स्पर्ष करके पाना चाहता हूँ। यह उपासक की भस्मी बार–बार आर्त्तनाद करती है। जिसका न कोई कर्म है, न धर्म न काल विचरता है वहाँ पर, न देश, न समाज, न कर्त्तव्य।

यहाँ एक बात मैं उल्लेख करना चाहूँगा, कि **संसार का कोई भी तत्व चेतनता से परे नहीं है और उपासक की एक ऐसी शक्ति होती है कि भस्मित होने के पश्चात् भी वह अपने इष्ट को नहीं भूलता। जहाँ उपासक का स्पर्श हो जाता है, वही से उसके इष्ट के नाम की, उसके जाप की ध्वनि आने लगती है! उसका नाद आने लगता है! यह सत्य है।** यह मैं उन उपासकों की बात कर रहा हूँ, जिनके जीवन का मात्र एक और एक ही लक्ष्य होता है, एक ही कर्म होता है, एक ही धर्म होता है एक ही कर्त्तव्य होता है और एक ही ज्ञान की आकांक्षा होती है और एक ही कर्मक्षेत्र होता है, जानते है क्या? जीवन काल में जिस उपासक ने अपने इष्ट के सामने केवल यही आर्त्तनाद की हो कि, 'मेरे कर्म का क्षेत्र तुझसे, तुझ तक हो और मेरा कर्म हो, सब प्रकार से, सब दिशाओं में, सब कालों में तेरे पास रहना। यदि संसार का कोई भी आकर्षण, संसार की कोई भी विभूति मुझे तुमसे परे लेकर जाए, मैं पुनः लौट कर तुम्हारे पास आ जाऊँ। मुझे कोई भी ऐसी प्राप्ति नहीं चाहिए, जो मुझे तुम्हारे चरणों से विलग कर दे। मेरा कर्म एक ही हो और वह है तुम्हारे पास रहना। कोई भी ऐसा पदार्थ, कामिनी, कंचन जो मुझे मेरे इष्ट से दूर ले जाए, उसको मैं तुरन्त त्याग दूँ। सुबह–शाम, सोते–जागते, समाधि में और सब अवस्थाओं में देखता रहूँ, कि क्या मैं तुम्हारे पास हूँ? क्या तुम मेरे पास हो? भले ही मेरा यह भ्रम हो। मेरे इष्ट! इस संसार में मैं बहुत भ्रमित हुआ हूँ। तुम सारे भ्रमों को एक बड़े भ्रम में परिवर्तित कर दो, कि तुम मेरे पास हो। भ्रम ही सही। उसका एक ही ज्ञान कि तुम ही मेरे सब कुछ हो।' तो **यह एक ऐसा संगम, एक ऐसी त्रिवेणी है, जिसमें उपासक निरंतर अपने जीवन में स्नान करते रहते हैं। यहाँ कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग समाप्त हो जाता है। ऐसी त्रिवेणी में जो जन्म से लेकर मृत्यु तक स्नान करते रहते हैं भले ही संसार उनको कुछ भी कहे, ऐसे उपासकों की मस्ती की आर्त्तनाद, जो मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ, यह परम सत्य है,**

अक्षुण्ण सत्य है। जब कभी उस आर्त्तनाद का असर होता है, तो उनकी भस्मी को उनके इष्ट का सानिध्य मिल जाता है और उस समय उनका दिव्य स्वरूप प्रकट हो जाता है।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि भस्मित होने के लिए जीवन–मृत्यु, शव, चिता–दहन, और पंच महाभूतों में भौतिक परिवर्तन यह आवश्यक नहीं है। उपासक अपने जीवन काल में अपने भाव के अनुसार ही ध्यान में वो भस्मित हो जाते हैं। उस अवस्था में जब इनको, इनके इष्ट के सान्निध्य का भास होता है, उनकी देह दिव्य हो जाती है। उनके नेत्रों में दिव्यता, उनकी वाणी में दिव्यता, उनके श्वासों में दिव्यता, उनकी सम्पूर्ण काया दिव्य हो जाती है। ईश्वर के विशिष्ट सम्बन्ध में वे विचरने लगते हैं। संसार में रहते हुए भी वे संसार से बहुत परे होते हैं।

सत्य पूछिए जैसा कि मै, अपने एक प्रवचन में उल्लेख कर चुका हूँ, वे पृथ्वी पर रहते हुए भी पृथ्वी से उठ जाते हैं। उनके चरण इस पृथ्वी पर नहीं पड़ते। वे कुछ ऊँचा चलने लगते हैं अर्थात् पृथ्वी का कोई भी आकर्षण उनको खींच नहीं सकता। पृथ्वी भी अपनी गुरुत्वाकर्षण शक्ति को भूल जाती है। ऐसे महापुरुषों पर पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति काम नहीं करती। वे यहाँ के समस्त प्रलोभनों से उठ जाते हैं। **यहाँ का कोई भी आकर्षण, कोई भी प्राप्ति उनको अपनी तरफ आकर्षित नहीं कर पाती, क्योंकि हृदय से, मन से मस्तिष्क से, आत्मा से, बोध से वे अबोध से हो जाते हैं। इस अवस्था को ज्ञानमय अबोधता कहा है।** ज्ञानमय अबोधता उस छोटे से बालक विचार करिए, जो प्राकृतिक रूप से अबोध होता है और इसको कितना अधिकार होता है समस्त वस्तुओं पर, समस्त जगहों पर कि वह निस्संकोच अपनी माँ से कुछ भी वस्तु माँग लेता है। किसी के घर जाकर कुछ भी वस्तु माँग लेता है। कुछ भी खाने की इच्छा प्रकट कर देता है। उसको यह ज्ञान ही नहीं होता कि अपना क्या है और बेगाना क्या है? तो प्रकृति का नियम देखिए कि जैसे ही मानव होश संभालता है, तो पहले वह अबोध होता है और उस अबोधता मे उसको सब कुछ अपना लगता है। धीरे–धीरे उसमें बुद्धि आती जाती है और अबोधता नष्ट होने लगती है और वह बोधमय हो जाता है। अपने और पराए का भेद आ जाता है उसमें। तो यह बुद्धि उसको संकीर्ण कर देती है। क्रमशः

निज कोटि में आने लगता है।

वास्तविकता यही है बुद्धि, अबोध को बोधमय बना देती है। उसका दायरा छोटा होने लगता है। धीरे–धीरे अपने घर और अपने घर के छोटे से कमरे में सिमट जाता है। लेकिन **यदि प्रभु की विशेष कृपा हो जाए, कहीं सत्संग या संत मिल जाए, तो पुनः उसको अपनी उस अबोधता की याद आने लगती है। वह फिर अबोध होना चाहना है, कि "हे प्रभु! मेरी वह अबोधता मुझे वापिस लौटा दो।" जैसे–जैसे उपासना प्रगाढ़ होती है, परिपक्व होती है। उपासक की अबोधता लौटने लगती है।** उसकी संकीर्णता समाप्त होने लगती है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु उसको अपने लिए ही लगती है। यहाँ के सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण भोग, सम्पूर्ण संसार की वस्तुएँ उसको मात्र अपने लिए लगती हैं। जब यह अवस्था परिपक्व होने लगती है, तो इसको कहा है– **ज्ञानमय अबोधता**।

जैसा मैं वर्णन कर चुका हूँ, कि **जैसे ही एक बालक अपना होश संभालता है, तो प्रथम उसको अबोधता ही विरासत में मिलती है, जो ईश्वरीय तत्व है।** जहाँ मेरे–तेरे का कोई भाव नहीं होता और न ही जहाँ पर किसी विभूति का कोई महात्म्य होता है। छोटे बच्चों के हाथ में हम बहुमूल्य वस्तुएँ देने से घबराते हैं। कोई स्वर्ण, कोई हीरा, कोई जवाहरात, कोई अन्य विशेष कागजात इत्यादि हम छोटे बच्चों के हाथ में नहीं देते, कि कहीं वे फाड़ न दें। हीरे, जवाहरात, स्वर्ण को वह कहीं दूर न फेंक दें। देखिए, संसार में जितनी भी भौतिक वस्तुएँ हैं, हमारी बुद्धि ने ही उन्हें महात्म्य दिया है, उनका मूल्य क्या है? जैसे ही हम संकीर्णता की तरफ और तथाकथित बौद्धिक विकास की तरफ अग्रसर होते हैं, तो संसार की वस्तुएँ हमको आकर्षित करने लगती है। जिनको एक अबोध बालक मात्र खेल का सामान समझ कर फेंक देता है और जब इसको ज्ञानमय अबोधता उत्पन होती है, तो पुनः वही हाल होता है। अति बहुमूल्यवान वस्तुएं उसको आकर्षित नहीं कर पातीं। बाँट देता है वह, उनसे खेलने लगता है। संसार और सांसारिक व्यक्ति जिनके लिये लालायित रहते हैं, दिन–रात जिसे पाने के लिए परिश्रम करते हैं, ज्ञानमय अबोधता आते ही उन वस्तुओं की कीमत को समाप्त कर देता है अपने हृदय में। उनसे खेलता है, मात्र उसके लिए वे खेलने का सामान बन जाती हैं।

ऐसे उपासकों की भस्मी भी इतनी सशक्त होती है, कि शायद भस्मी ही एक ऐसा तत्व है, जिसमें परिवर्तित होने के बाद उपासक को महाशान्ति मिलती है। उस भस्मी में न उसका कोई धर्म होता है, न कोई कर्त्तव्य होता है, न उसका कोई आकार होता है। वास्तव में यही इसका निराकार स्वरूप है और आज जो निराकार उपासना की पद्धति को अधिकतर बुद्धिजीवी मानने लगे हैं, तो सत्य पूछिए स्वयं भाव द्वारा भस्मित होने पर ही एक निराकार स्वरूप होता है, जिसके द्वारा आप निराकार ब्रह्मा की उपासना कर सकते है, अन्यथा नहीं। इसका विस्तारपूर्वक विवरण **"ईश्वरीय ध्यान"** नामक अध्याय में दिया जा चुका है।

जब उपासक अपनी देह में, अपनी भौतिक देह में होता है, तो किसी से लगाव, किसी से शत्रुता, किसी से मित्रता, किसी का लेना, किसी को देना, **भले ही हम कितने ही विलग होने की कोशिश करें, संसार से कोई न कोई सूक्ष्म सम्बन्ध, किसी न किसी से रहता ही है और वह हमारे और हमारे इष्ट में एक दीवार बना रहता है।** भला एक भस्मी को किसी से क्या लगाव? क्या किसी मनुष्य की भस्मी दूसरे मनुष्य से अलग होती है? बड़े–बड़े महाराजा और रंक मानव व राक्षस जब भस्मित होते हैं, तो उनकी भस्मी को किसी दूसरे की भस्मी से अलग नहीं किया जा सकता। भस्मी एक ही है और परम विशुद्ध है भस्मी। शिव से छोटी इ' हटती है, तो शव बनता है। शव पूजनीय होता है। जब शव बनने के बाद भी इष्ट के सान्निध्य का भास नहीं होता, तो शव भस्मी बन जाता है और जब भस्मी होने के पश्चात् भी अपने इष्ट का सान्निध्य नहीं मिलता, तो उपासक भस्मित ही रहते हैं। यहाँ उपासकों की दो प्रकारों का वर्णन कर रहा हूँ। भस्मित होने के पश्चात् जीवन काल मे यद्यपि वे देहधारी से लगते हैं, लेकिन ह्रदय में वे स्वयं मे भस्मित हो जाते हैं। **उनका समस्त श्रृंगार ऐसा लगता है मानो भस्मी को किसी ने आकार देकर श्रृंगारित कर दिया हो। ह्रदय से, मन से मस्तिष्क से, वे मात्र भस्मी ही होते हैं या अपने इष्ट का सान्निध्य पाने के बाद वही दिखाई देने वाली उनकी देह दिव्य हो जाती है। तो भस्मित देह और दिव्य देह मे बहुत सूक्ष्य सा अन्तर होता है।**

भस्मित उपासक उदास से लगते हैं लेकिन उनकी उदासी किसी सांसारिक

वस्तु के लिए नहीं होती, एक आनन्दमयी उदासी होती है। सदा अपने इष्ट की स्मृति में उसकी याद में उसको पाने की तीव्रतम इच्छा में वे खोए से रहते हैं। उनके नेत्रों में एक विलक्षण वैराग सा होता है। किसी भी वस्तु का कोई महत्व नहीं होता उनके हृदय में और जब वे भस्मी, दिव्य देह धारण कर लेती है अपने इष्ट का सान्निध्य पाने के बाद तो वह देह साधारण देह नहीं होती एक सुगन्धित देह होती है, जिसमें मुदिता होती है, आकर्षण होता है, सबके प्रति करुणा और दया होती है, जो ऐश्वर्यपूर्ण होती है, बलवान होती है, ख्यातिवान होती है, सौन्दर्यवान होती है और अन्ततः वैराग्यपूर्ण एवं त्यागवान होती है।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों के गुण होते हैं उपासकों में। सौन्दर्य, ज्ञान बल, ख्याति, ऐश्वर्य और त्याग, इनमें से त्याग शिव का गुण है। तो आवश्यकता पड़ने पर वे शिव रूप में प्रकट हो जाते हैं। सब कुछ होते हुए भी परम त्यागवान, हृदय से, मन से मस्तिष्क से। सौन्दर्य, बल और ऐश्वर्य ये तीन गुण विष्णु के हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे तीनों गुणों में विचरने लगते हैं और शेष ज्ञान एवं ख्याति ये ब्रह्मा के गुण हैं। आवश्यकता पड़ने पर वह ब्रह्मा बन जाते हैं। तो जो उपासक अपनी भस्मित देह के बाद दिव्य देह को धारण कर लेते हैं, उनका दिव्य आपा प्रकट हो जाता है। वे ईश्वर की तीनों विधाओं ब्रह्मा, विष्णु और महेश में अपनी इच्छानुसार या देव इच्छानुसार, विशिष्ट समय पर, काल पर प्रकट हो जाते हैं।

उनके दिव्य आपे में ही इतने आपे प्रकट हो जाते हैं, कि देखने वाले भ्रमित हो जाते हैं। विरक्त होते हैं तो शिव की तरह और ऐश्वर्यवान बनते हैं, तो विष्णु की तरह और ज्ञानवान बनते हैं तो ब्रह्मा की तरह, ऐसा सा दिव्यमय व्यक्तित्व जागृत हो जाता है। जन्म और मृत्यु, खोना और पाना इत्यादि ये समस्त उनके लिए गौण हो जाता है, लेकिन इस समस्त प्रकरण के पीछे और इस समस्त प्रकरण के लिए, इस अवस्था के लिए भस्मित होना आवश्यक है। भस्मी प्रारम्भ भी है, भस्मी मध्य भी है और भस्मी अन्त भी है। इस देह का निर्माण बिना भस्मी के नहीं हो सकता और इस देह को जीवित काल में सदा इस पृथ्वी से ओत–प्रोत होना ही पड़ता है और अन्ततः इसको भस्मी में विलीन होना पड़ता है। या तो उपासना की प्रगाढ़ता इसको भस्मी की ओर ले जाती है, नहीं तो

महाकालेश्वर की इच्छा से इसको एक दिन भस्मी में अवश्य परिवर्तित होना पड़ता है, यही है इस महाकालेश्वर की लीला।

भस्मी योग एक बहुत विचित्र योग है।। इसी मानव देह को धारण करके यदि हम अपनी दिव्य देह में प्रवेश करना चाहते हैं, अपने दिव्य व्यक्तित्व को जाग्रत करना चाहते हैं, जिससे हमें निरन्तर अपने इष्ट के सान्निध्य का भास होता रहे, तो हमको स्वयं की भस्मी में से गुज़र कर अवश्य निकलना होगा। किसी भी महामानव में या मानव में कई व्यक्तित्व होते हैं। एक व्यक्ति कई व्यक्तित्वों को मिल कर बनता है और यदि वास्तविकता पूछें, तो हमारे सम्मुख संसार में हमारे भीतरी व्यक्तित्व ही बाहर प्रकट होते हैं, विभिन्न नाम–रूपों में, विभिन्न सम्बन्धों में।

जब कोई व्यक्ति कहता है कि मेरे अमुक–अमुक सम्बन्ध से इस प्रकार की एक रुकावट पैदा होती है अपने इष्ट को पाने के लिए तो वास्तव में उसके भीतर का ही एक व्यक्ति बाहर खड़ा है विशिष्ट नाम रूप और सम्बन्ध में जो उसके और उसके प्यारे के बीच दीवार बना हुआ है। जो सहायक होते हैं वे भी इसके भीतर के व्यक्तित्व होते हैं। तो एक व्यक्तित्व संसार की समस्त भौतिकताओं से परे का व्यक्तित्व है। यह एक आरक्षित व्यक्तित्व है, जिस पर मात्र ईश्वर का अधिकार है। इस सृष्टि को रचने वाले इस मानव देह को बनाने वाले का अधिकार मात्र उसका अधिकार है। वह है दिव्य व्यक्तित्व। जिसको उपासना से, ध्यान से, चिंतन से, मनन से, समाधि से, सेवा भाव से, इन्द्रियों द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवेश से और किसी भी प्रकार से उस ईश्वर कृपा से जब वह दिव्य व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है तो मानव के समस्त भौतिक व्यक्तित्व अपना आपा खो देते हैं, अपना स्वरूप बदल लेते हैं। समस्त विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह और अंहकार इसके लिए दिव्य उत्प्रेरक बन जाते हैं। इसके समस्त प्रतिरोध इसको इसके इष्ट से मिलाने में सहायक हो जाते हैं। यहाँ तक ही नहीं ईश्वर की महाशक्तियों समस्त ग्रह, नक्षत्र, महाग्रह समस्त मायिक एवं मानसिक शक्तियों परम उत्कृष्ट और घनिष्ठ मित्रों की तरह इसको स्वयं इष्ट के पास ले जाने में परम सहायक हो जाती है। यह सत्य अनुभव मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ।

ईश्वर की समस्त प्रकृति सौन्दर्यमय हो जाती है। सम्पूर्ण दृष्टिकोण बदल जाता है। भीतर और बाहर का जगत मुदिता से, आनन्द से परिपूरित हो जाता है। विचारों

की श्रृंखलाए, विचारधाराएं बदल जाती हैं। उपासक का प्रत्येक श्वास, प्रत्येक सोच आनन्दमयी होती है। उसकी समीपता में आने वाला प्रत्येक जीव आनन्दित हो जाता है, आकर्षित हो जाता है, लेकिन यह मुदिता बहुत मँहगी है। इसके लिए भस्मित होना आवश्यक है। तो जैसा मैं अभी उल्लेख कर चुका हूँ, भस्मित होने के पश्चात् अपने इष्ट की याद अपने इष्ट का स्मरण, अपने इष्ट की खोज इसको निरन्तर उदास रखती है उसकी उस दृष्टि में उदासी सी छायी रहती है। लेकिन वह उदासी भी आनन्दमयी होती है। यह ज्ञान, ध्यान और समस्त प्रक्रियाओं से, प्रकरणों से विलग सा हो जाता है। कोई बाधा, कोई कर्म कोई धर्म, कोई क्रिया, कोई विद्या इसके लिए सब अपना अस्तित्व खो देते हैं। जब यह अपने इष्ट के सानिध्य को पाने मे सफल हो जाता है, तो अपनी दिव्य देह में परिवर्तिन हो जाता है।

इसके विकार इसके दिन उत्प्रेरक बन जाते हैं। **अहंकार** होता है तो मात्र इसका कि मैं इस सम्पूर्ण कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड नायक की संतान हूँ। इसे **महामोह** होता है अपने इष्ट से। **लोभ** होता है तो अपने इष्ट के नाम के जाप का। **क्रोध** होता है तो उन उपलब्धियों और वस्तुओं पर, उन व्यक्तियों पर जो इसके और इसके इष्ट के बीच में आते हैं, उन्हें यह सहन नहीं कर सकता। **महाकामी** हो जाता है यह, क्योंकि इसको पूर्णकाम की इच्छा रहती है। ऐसे पूर्णकाम ईश्वरीय स्वरूप की, जहाँ पहुंचने के बाद जिसके स्पर्श के बाद संसार की समस्त कामनाएं उस प्रकार विलीन हो जाती हैं, जिस प्रकार कि छोटी–छोटी नदियाँ–नाले उस महासागर में मिलने ही अपना अस्तित्व खो देते हैं।

।। जय जय श्री राम।।

मध्य

आज आपके सम्मुख जो विषय रखने जा रहा हूँ, वह अपने में बहुत विचित्र, विचारणीय एवं अद्भुत है, जिसका नाम है—**मध्य**, बीच। यह मध्य क्या है? क्यों है यह जीवन का मध्य कैसा है? इसकी उलझने क्यों है? कैसे सुलझ सकती है यह समस्त उलझनें? इत्यादि। इस समस्त अति गहन विषय पर आज अपने इष्ट प्रभु श्री हनुमान जी की प्रेरणा एवं कृपा से अपने विचार रखूँगा।

कभी कोई मानव मानसिक एकान्त स्थिति में बैठे अपने जन्म से पहले के बारे में विचार करें, उस समय के बारे में जब यह जन्म नहीं हुआ था, न कोई नाम था, न रूप, न देह। जब यह देह ही नहीं थी तो नाम और रूप किसका होता? इस देह के कारण ही विभिन्न देहों से सम्बन्ध, कोई माँ, कोई पिता, कोई भाई—बहिन, कोई पति—पत्नी, संतान व सम्पदा, पद धर्म, देश और न जाने क्या—क्या बनता है। इस देह और देह के नाम व रूप पर आधारित यह सारा ब्रह्माण्ड, प्रारब्ध, शुभ—चिन्तक, शत्रु मित्र और कितना बड़ा संसार स्वतः ही बन जाता है, बनता रहता है और बिगड़ता रहता है। यह समस्त मध्य का खेल है। यदि हम अपने जन्म से पहले की स्थिति के बारे में समय के बारे में, अपने स्वरूप के बारे में विचार करें, उसकी कल्पना करें, और उसके ऊपर एकाग्र करें तो ज्ञात होगा, कि इस **देह को धारण करने से पहले मैं था, अवश्य था मैं।** परन्तु न देह थी, न उसका कोई नाम था, न रूप था और इस देह के नाम व रूप पर आधारित सारा ब्रह्माण्ड भी नहीं था, लेकिन **मैं था**। जब अपनी इस परिकल्पना को अपने जन्म से पहले दौड़ाने के बाद इस तथ्य से, इस आत्मानुभूति से इस विश्वास से विश्वस्त हो जाये कि **'मैं था'।**

तो उसके तुरन्त पश्चात् यदि वही मानव, वही जिज्ञासु, अपनी मृत्यु के बाद, यह जीवन समाप्त होने के बाद दृष्टि दौड़ाए, उस समय भी, उस स्थिति में भी एक आभास होगा, कि इस जीवन की समाप्ति के बाद भी 'मैं होऊँगा, लेकिन मुझ पर आधारित कोई देह व उस देह का नाम व रूप नहीं होगा, लेकिन मैं अवश्य होऊँगा'। यदि हम जीवन के इन दोनों किनारों जन्म और मृत्यु, जिनके बीच यह जीवन बंधा हुआ है, उनसे कहीं दूर निकल जाए, जन्म से दूर, मृत्यु से दूर तो हम स्वयं को वहाँ भी अवश्य पाते है। वह दूसरी बात है, कि वहाँ हमारी कोई देह नहीं होती, कोई नाम

व रूप नहीं होता और इस देह पर आधारित कोई संसार नहीं होता। इस विषय पर अति गहनता पूर्वक विचार करने से कम से कम यह अनुभूति तो अवश्य होती है कि यह जो देह की उपाधि, देह का नाम और रूप, देह पर आधारित समस्त ब्रह्माण्ड और महाब्रह्माण्ड की संरचना और एक भवन सा, जो इस देह रूपी नींव पर आधारित है, यह मात्र मध्य में ही निर्मित हुआ है।

इस देह के मिलने से पहले भी मैं था, इस देह की समाप्ति के बाद भी मैं रहूँगा। लेकिन यह देह जो मुझे मध्य में मिली है और ईश्वरीय संकल्प से जिसका संचालन एवं पालन हो रहा है, जिसके ऊपर मेरा पूरा बह्माण्ड आधारित है, संचालित है, निर्मित है। एक दिन यह देह अवश्य क्षीण हो जाती है और समाप्त हो जाती है। मृतक हो जाती है। इसके पश्चात् भी मैं रहता हूँ अर्थात् **यह समस्त आडम्बर देह और दुनिया का यह मात्र मध्य का है, बीच का है।**

प्रश्न यह उठता है कि जब मैं था अनाम अरूप और विदेह, तो क्या आवश्यकता पड़ी मुझे या उस सृष्टिकर्ता ईश्वर को यह देह देने की और उसके साथ एक संसार निर्मित करने की और किसलिए मैं उसका त्याग करता हूँ या मुझ से वह देह और दुनिया एक दिन फिर विलग हो जाती है। इस सम्पूर्ण प्रकरण का कारण क्या है? आवश्यकता क्या है? और पुनः मैं फिर देह लेता हूँ। दूसरी देह, जिसका नाम व रूप भी दूसरा होता है और विभिन्न परिस्थितियों में, देश–काल में, धर्मों में, समय में बंधकर, उस देह की विभिन्न परिस्थितियों में अपना नया–नया ब्रह्माण्ड निर्मित करता हूँ या निर्मित होता है और फिर वही मध्य का सिलसिला चलता है और अन्ततः वही देह फिर समाप्त हो जाती है और फिर मैं विदेह हो जाता हूँ। इस प्रकार जन्म दर जन्म बीतते रहते हैं।

जीव विभिन्न प्रकार की देहों को, नाम व रूपों को धारण करता है, न केवल जन्म–जमान्तरों में, बल्कि यदि हम अपने एक दिन की दिनचर्या भी देखें, तो हम प्रगाढ़ निद्रा से जब सुबह जागते हैं, तो जागते ही हम अपना एक संसार निर्मित करते है। एक क्षण पहले जब हम प्रगाढ़ निद्रा में थे, तो उस समय हमारा कोई संसार नहीं था, लेकिन सुबह आँख खुलते ही हमें अपना, अपनी देह का, अपने नाम–रूप का और उस नाम–रूप पर आधारित समस्त संज्ञाओं का ज्ञान होता है।

हमें अपने कर्त्तव्यों और कर्मों की स्मृति आती है, प्रेरणा होती है। हम अपना बिस्तर त्यागते हैं और नित्य कर्म करने के पश्चात् अपने कार्यों में फिर जुट जाते हैं। धन–अर्जन करने में, विद्या–अर्जन करने में, नाम और यश की विभिन्न विधाओं की पूर्ति करने में, सम्पत्ति में, सम्पदा में न जाने कितनी प्रकार की भौतिक वस्तुओं का अर्जन करने में और अन्ततः संध्या तक हम थक जाते हैं और थकने के बाद हमें चाहिए **विश्राम**।

विश्राम में और निद्रा में अन्तर है। **विश्राम, मात्र देह के विश्राम के लिए एक जगह लेट जाना अथवा बैठ जाना, उसे कहा है विश्राम।** विश्राम में हमें देह का ध्यान नहीं छूटता। देह होती है, हम अपने नाम और रूप में भी चेतन सत्ता में होते हैं, लेकिन सब प्रकार की भौतिक क्रियाओं से मुक्त हो जाते है कुछ क्षण के लिए, उसे कहा है विश्राम। **लेकिन निद्रा में हमें देह का आभास भी कुछ समय के लिए छूट जाता है। सो जाते हैं हम अपनी देह से परे हो जाते हैं हम।** अपने नाम व रूप से परे हो जाते हैं और इस नाम व रूप पर आधारित जितना भी हमारा ब्रह्माण्ड है, उससे ऊपर उठ जाते हैं। जितनी देर तक कोई व्यक्ति प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा है, उतनी देर तक वह, वह नहीं रहता। उसको अपनी देह का आभास भी नहीं होता। अपने नाम रूप, काल, देश, परिस्थिति, सम्पत्ति, पद, इन सबसे जीव–मुक्त हो जाता है और परम विश्राम की स्थिति में, निद्रा की स्थिति में चला जाता है। तो इस प्रकरण से हमको ज्ञात होता है कि यदि हम एक दिन की दिनचर्या देखें, एक दिन में विश्राम से ऊपर उठकर हमें निद्रा की आवश्यकता पड़ती है, जबकि हम अपनी देहाध्यास से कुछ घण्टों के लिए छूट जाते हैं, अपने नाम व रूप से परे हो जाते हैं। जब हमारी देह और हमारा नाम व रूप हमसे परे हो जाता है, तो इस पर आधारित हमारा सारा ब्रह्माण्ड, हमारा सारा संसार कुछ घटों के लिए हमसे स्वतः ही अलग हो जाता है और उसको हम परम विश्राम की स्थिति कहते है।

कुछ लोग निद्रा में और विश्राम में भी चुप नहीं बैठ सकते। उनके मानस पटल पर विभिन्न प्रकार के विचार कौंधते रहते हैं, उठते रहते हैं और उन विचारों की दुनिया में वे भ्रमण करते रहते हैं, उसकी कहा है–**'स्वप्नावस्था'**। ऐसे लोग रात्रि में सोए–सोए विभिन्न प्रकार के स्वप्नों की दुनिया में घूमते रहते हैं। यदि हम स्वप्न

अवस्था को अथवा निद्रा का गहन अध्ययन करें, तो हम पाएंगे कि यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें हम अपनी देह और नाम–रूप से परम विश्राम पाने के लिए अलग होते हैं। प्रकृति ने, ईश्वर ने यह इस प्रकार की अवस्था बनाई है, कि इस अवस्था में हम तुरीया अवस्था की तरह, मूर्च्छा की तरह और अति गहन समाधि की तरह कुछ घण्टों के लिए, कुछ समय के लिए अपनी देह और उस देह के ऊपर आधारित अपनी दुनिया से अवश्य अलग हो जाते हैं, विलग हो जाते हैं। इस प्रकार इस निद्रा की कितनी परम आवश्यकता है। जीवन में यदि यह निद्रा न हो, तो कुछ दिनों में कोई भी व्यक्ति मानसिक संतुलन खो बैठता है, पागल हो जाता है और विभिन्न प्रकार के मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार की दैहिक बीमारियों से, रोगों से घिर जाता है। स्वास्थ्य दुर्बल हो जाता है। इसलिए जीवन में जागृत अवस्था में यदि कर्मों का महात्म्य बताया है तो सुषुप्त अवस्था में आराम का, निद्रा का भी महात्म्य अवश्य उल्लेखनीय है। जब हमारी निद्रा खुलती है सुबह के समय में, हम अपनी देह में उसी समय प्रवेश करते हैं, अपनी देह का ध्यास मात्र उसी समय होता है और एक क्षण सोने से पहले हमें देह का ध्यास होता है। सुषुप्ति के तुरन्त बाद हमारा देह का ध्यास समाप्त हो जाता है। यह हमारे प्रतिदिन की दिनचर्या है।

यदि आप गहन चिंतन एवं विचार करें, तो इस तथ्य का रहस्य इष्ट कृपा से अवश्य खुल जाएगा। यदि हम अपनी दैनिक प्रक्रियाओं, दैनिक व्यवहार और तथाकथित कर्मों एवं कर्त्तव्यों का बोझा ढोना इत्यादि–इत्यादि यह सब आनन्द के लिए और आनन्दमय करते हैं, तो दोनों में बडा अन्तर है। जब हम दैहिक कार्य आनन्द के लिए करते हैं, तो हम पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं और जब आनन्दमय करते हैं तो हम मानवीय व दैवीय जीवन बिताते है। इस प्रकार जीवन की एक अबाध गति चलती रहता है। यदि हमको परम विश्राम चाहिए, तो रात्रि में हम सब प्रकार के दैहिक, भौतिक, शारीरिक मानसिक, बौद्धिक कार्यों से निवृत्ति पाना चाहते हैं और अन्ततः प्रभु कृपा से हम प्रगाढ़ निद्रा में फिर चले जाते हैं। जैसा कि मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ, जब हम प्रगाढ निद्रा से पुनः उठते हैं, उस समय हमें एक विशेष आनन्द की अनुभूति होती है और अक्सर हम लोग कहते हैं, आज निद्रा का आनन्द आया। अब यहाँ पकड़ का विषय यह है कि निद्र में जो आनन्द था, वह आनन्द तो

जागृति के बाद विलोप हो गया, लेकिन उस आनन्द की जो खुमारी है, वह हमको अभी भी आनन्द देती है और हम कहते है, 'मुझे आज की निद्रा में बड़ा आनन्द आया।' तो निद्रा में क्या आनन्द आया?

जब हम अपनी देह से परे होते हैं, न हमारा कोई नाम–रूप होता है और न हमारा कोई संसार होता है। न हमारी इन्द्रियाँ कोई सुख लेती है, न हम किसी प्रकार के कर्म को करते हैं, तो आनन्द कैसा? ऐसा आनन्द जो जागृति के बाद भी हमको अनुभव हो रहा है अर्थात् वह निद्रा अवस्था में हमारी एक विशेष आनन्दमय स्थिति अवश्य रही होगी, कि जागृति के बाद भी जिसका खुमार सा प्रतीत होता है। बड़ा विचारणीय विषय है, कि एक अवस्था ऐसी है, जिसमें हम अपने नाम–रूप से, अपनी देह से और देह के आडम्बर से, दुनिया से परे चले जाते हैं, जिसे कहा है–**प्रगाढ़ निद्रा**। उसमें जो आनन्द का अनुभव करते हैं, जो आनन्द उत्पन्न होता है, प्रकट होता है, उसका अनुभव और उसकी अनुभूति हम मात्र जागृति में ही करते हैं। उस अनुभूति के अनुसार ही हम अपनी निद्रा को परिभाषित करते हैं, कि आज की निद्रा बहुत आनन्दमय थी। यह प्रत्येक व्यक्ति का होने वाला एक अनुभव है।

अर्थात् जब जागृति में **मैं 'मैं मानव'** अपनी नाम और रूप की देह में प्रविष्ट हुआ और उसके अनुसार मैंने विभिन्न कार्य करने शुरू किए, विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्य निभाने शुरु किए, तो उन कार्यों को, उन कर्तव्यों को निभाते, धन को एकत्रित करते, संचित करते, कमाते और विभिन्न प्रकार के अन्य कार्य करते–करते जब रात्रि हो जाती है, तो मेरा मस्तिष्क और देह थक जाती है। तब चाहिए परम विश्राम और उसका नाम है–**निद्रा**। भला जागृति में आप किसी से पूछिए कि निद्रा में आपको क्या मिला? छः–सात घण्टे ही स्थान पर सोए रहना, यह बड़ा कठिन कार्य है, लेकिन जीव हर रोज निद्रा में आनन्द के लिए जाता है। आनन्द से परिपूरित होकर फिर स्फुरति से सुबह उठता है। निद्रा की परिकल्पना हम मृत्यु से कर सकते हैं और पुर्नजन्म को हम अगले दिन के साथ परिकल्पित कर सकते हैं। तो यह मध्य का जो भाग है दिन, जिसका प्रारम्भ जागृति से और अन्त सुषुप्ति पर होता है, जिस प्रकार जीवन का प्रारम्भ जन्म से और अन्त मृत्यु पर होता है, इस जन्म और मृत्यु के मध्य में अपनी देह और देह के प्रति और देह के द्वारा किए हुए व्यवहार, इन विभिन्न

प्रकार के कार्यों और कर्त्तव्यों में उलझ जाने से इसके जीवन की गुणात्मकता अवश्य कम हो जाती है, क्योंकि इस जीवन को देने वाला कोई और ही है, चलाने वाला और समाप्त करने वाला कोई और ही है।

लेकिन दुर्भाग्यवश बुद्धि के पदार्पण के साथ हम इस रहस्यमय तथ्य को भूल जाते हैं, जबकि यह परम सत्य है। इस सत्य को पाने के बाद कोई भी जीवात्मा, कोई भी जीव सावधान हो जाता है कि, "मैं सुषुप्ति से क्यों उठाया जाता हूँ?" अपने नाम–रूप में, अपनी सृष्टि में आनन्दपूर्वक प्रवेश करता हूँ और उसको मान्यता देता हूँ। सारा दिन विभिन्न प्रकार के कार्य करता हूँ और अन्ततः थक कर मैं अपनी उस सुबह वाली सृष्टि को, देह को भूलना चाहता हूँ, इससे विलग होना चाहता हूँ, अतः पुन. निद्रा की गोद में चला जाता हूँ।

तो जीवन मात्र मध्य में ही है। कहने का तात्पर्य है, कि विशिष्ट लक्ष्य जीवन का यह होना चाहिए, कि 'मैं परम सत्य हूँ। मेरा एक स्वरूप ऐसा है, जो देह से और देह के नाम व रूप से परे है।' यदि हमें अपने उस स्वरूप की मात्र झलक भी आ जाए, मात्र झलक। तो हर जीव की एक मस्ती अवश्य लौट आएगी, अन्यथा नहीं। जैसा कि मैं अभी बता चुका हूँ, कि यदि हम जन्म और मृत्यु के दोंनो किनारों से बहुत दूर निकल जाएं या कुछ दूर निकल जाएं, तो जीवन को दूर से खड़े होकर देखने का एक बड़ा आनन्द आता है। जीवन में खोना–पाना, हँसी–खुशी और कई प्रकार की धन–सम्पदा, सन्तान और न जाने क्या–क्या हम लोग पाते हैं ईश्वर कृपा से। अति जिज्ञासु लोग जो इस क्रम में चलना नहीं चाहते और जन्म–जन्मांतरों के इस काल चक्र मे पड़ना नहीं चाहते, वे कभी न कभी इस मध्य से छँलाग मार देते हैं, कूद जाते हैं और सदा–सदा के लिए इस महाकाल चक्र से परे हट जाते हैं। इस मध्य में ऐसी क्या विशेषता है, कि जीव देह धारण करते ही इस दुनिया में प्रवेश होना चाहता है। इस मध्य का आकर्षण क्या है?

पहले माँ के गर्भ में लगभग नौ महीने सात दिन मानव शिशु पलता है और फिर उसका जन्म होता है। यदि वास्तव में पूछा जाए, तो मानव देह उत्पन्न होते ही स्वयं को समय या काल के बंधन में बाँध लेती है। देह के उत्पन्न होते ही समय को समर्थवान माता–पिता बहुत महत्व देते हैं। कई प्रकार के उत्सव मनाए जाते हैं,

जिसे कहा है—**जन्म दिवस**। जिसका जन्म अथवा जन्म—दिवस होगा, उसकी मृत्यु अथवा मृत्यु—दिवस भी अवश्य ही होगा। मृत्यु एवं मृत्यु—दिवस पर श्रद्धांजलियाँ अर्पित की जातीं हैं। फिर शिशु का कुछ दिनों में नामकरण होता है। जैसे—जैसे मानव शिशु का मस्तिष्क विकसित होता है और उसका सम्पूर्ण विकास होता है, तो संसार के विभिन्न सम्बन्धों को और संसार को अपनी दृष्टि से, अपनी बुद्धि से समझने लगता है। फिर वही भौतिक पढ़ाई—लिखाई वही शादी—विवाह, विशिष्ट प्रकार के व्यवसाय धन का अर्जन इत्यादि—इत्यादि और अन्ततः किसी न किसी कारण के बहाने मृत्यु हो जाती है। यदि इस विषय पर हम गहन विचार करें, तो किसी भी जिज्ञासु में असंख्य प्रश्नों की धाराएँ व चिन्गारियाँ सी फूटने लगती हैं।

जब तक उत्तर न मिले वह शांत नहीं होतीं और किसी भी जिज्ञासु, परम जिज्ञासु मानव के मस्तिष्क में ये प्रश्न आने स्वाभाविक हैं, कि यह मध्य का जीवन क्या है? क्या मिला है मुझको इसका अर्थ क्या है? जरा विचार करिए, कि यदि यह जीवन हमको न भी मिलता तो हमारा क्या बिगड़ जाता? क्या इस असंख्य कोटि—कोटि जीवों से भरे हुए संसार में कोई अन्तर पड़ जाता? किसी वस्तु विशेष और व्यक्ति विशेष के बिना भी दुनिया अवश्य चलती है। जैसा कि एक प्रवचन में मैं कह भी चुका हूँ, कि दुर्भाग्यवश, जो लोग यह समझते है, कि उनके बिना दुनिया चल नहीं सकती या अति कठिनतापूर्वक चलेगी, तो उनको यह बात समझ लेनी चाहिए, कि उनकी मृत्यु के बाद संसार अधिक सुचारु रूप से अवश्य चलेगा। अब एक ज्वलन्त प्रश्न यह उठता है, कि इस जीवन का अर्थ क्या है? क्यों धारण करना चाहते हैं हम यह मध्य का जीवन और धारण करने के कुछ वर्षों के पश्चात् हम इससे ऊब क्यों जाते हैं? फिर इसकी समाप्ति चाहते हैं और पुनः हम नया, फिर और नया जन्म, इस प्रकार इस क्रम में चलते—चलते युग—युगान्तरों की यात्रा तय करते रहते हैं।

यदि हम किसी भी विचारशील और बुद्धिजीवी मानव से पूछें, कि इसका अर्थ क्या है? तो उसके माथे पर चिन्ता की और गहन विचारों की भृकुटियाँ तन जाती हैं। गम्भीर हो जाता है उसका चेहरा, मानो अंतरात्मा से, अन्तबुद्धि से वह इसका उत्तर ढूँढने के लिए चल पड़ा हो और कुछ समय के बाद जब वह उस स्थिति से बाहर

आता है, तो निरुत्तर ही आता है। तो आज इस बात का यह निर्णय अवश्य होना चाहिए, कि मध्य की आवश्यकता क्यों पड़ी। यदि हम बिना जीवन के, बिना जन्म के, बिना देह धारण किए भी हैं, तो देह धारण क्यों की गई होगी या क्यों करवाई गई होगी? इसका ज्ञान हमको होना परम आवश्यक है।

जिस प्रकार कि रात्रि को सोने से पहले अक्सर प्रत्येक व्यक्ति का कोई न कोई कार्य अधूरा अथवा अधूरा सा रह जाता है, जिसको वह भविष्य के लिए डाल देता है कि अमुक कार्य अब कल करूँगा, सो जाता है और सुबह उठते ही उसको वो ही कार्य याद आ जाता है। उसके लिए नई प्रकार से योजना बनाता है अथवा पुरानी योजनाओं को कुछ नयापन देता है। वह कार्य को समाप्त करने की कोशिश करता है। कुछ अन्य संकल्प उत्पन्न हो जाते हैं और इस प्रकार दिन बीत जाता है, पुनः रात आ जाती है पुनः सो जाता है और वह नया अधूरा कार्य करने के लिए फिर अगली सुबह को वह कुछ अन्य योजनाए बनाता है और इस प्रकार दिन–प्रतिदिन बीतते रहते हैं और अन्ततः जीवन बीत जाता है।

अक्सर अगर हम कुछ मानवों के जीवन का विश्लेषण करें, तो लगभग प्रत्येक मानव के जीवन में अन्त समय तक कुछ न कुछ कार्य, कुछ न कुछ संकल्प. अधूरे रह जाते हैं। यदि जन्म सत्य है, तो मृत्यु भी सत्य है। चूंकि मृत्यु का समय कुछ भी निर्धारित नहीं है, तो मानव, जीवन को सत्य मानते हुए, अविरल मानते हुए कुछ न कुछ संकल्प, विकल्प करता ही रहता है। इस प्रकार मृत्यु से पहले कुछ न कुछ संकल्प, कुछ न कुछ कार्य उस मानव के छूट ही जाते हैं और उतने में मृत्यु आ जाती है। जीवन का एक पहलू समाप्त हो जाता है, लेकिन जीवन समाप्त नहीं होता। कुछ समय के लिए देह से और उस नाम–रूप पर आधारित जो समस्त जगत है, इससे विमुक्त हो जाता है। पुनः उन्हीं वासनाओं की, उन्हीं संकल्पों की पूर्ति करने के लिए पुनः–पुनः देह को धारण करता है।

देह धारण करने के पश्चात्, एक समय पर उसको अज्ञात कुछ ऐसे संकल्पों की याद आ जाती है। यद्यपि इसके हदय में भी उन संकल्पों का, उन कार्यों का उसके पूर्वजन्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता। लेकिन वास्तव में जब हम देखते हैं कि कोई विशिष्ट मानव, कोई विशिष्ट कार्य को करने के लिए ही पैदा होता है, तो इसका

साक्षात् अर्थ यह हुआ, कि वह किसी विशेष वासनाओं व विशेष संकल्पों की पूर्ति के लिए ही इस देह को धारण किये हुए है। यद्यपि उसको यह स्मृति नहीं होती कि मैं अमुक–अमुक कार्य को पूरा करना चाहता हूँ, तो यह एक प्रमुख कारण है पुनः–पुनः देह धारण करने का और इस प्रकार जन्म–जन्मान्तरों की श्रृंखलाये चलती रहती हैं।

परन्तु जब कुछ जिज्ञासु और मुमुक्षु श्रेणी के मानव इस सत्य को पकड़ लेते हैं, कि इन वासनाओं का, संकल्पों–विकल्पों का, कामनाओं का तो कोई अन्त ही नहीं है, तो क्या यह जन्म दर जन्म इन्हीं श्रृंखलाओं में सुख–दुख सहते रहेगें, निरर्थक? तो मानो उनके जीवन में एक **विशुद्ध विराम लग जाता है।** उनका जीवन भौतिक कार्यों के लिए नहीं होता। जब वे इस रहस्य को पकड़ लेते हैं, तो उनको कोई भी भौतिक कार्य अथवा कर्तव्य नया जीवन लेने के लिए, नया जन्म लेने के लिए प्रेरित नहीं करते। वे भी जन्म लेते हैं लेकिन उसी प्रकार लेते हैं, जिस प्रकार कि कोई महामानव रात्रि को सोते समय उस दिन के सारे कार्य, सुचारु रूप से, आनन्द से निबटा कर सोए, ताकि उसको अगले दिन के लिए कोई कार्य शेष न बचे। कोई संकल्प उसके हृदय में न हो, किसी से मिलने का, किसी से बिछुड़ने का इत्यादि–इत्यादि। ऐसे महामानव जिस प्रकार सुबह उठते हैं और उठने के बाद वे उस दिन को आनन्द पूर्वक बिताने के लिए कुछ न कुछ योजना आनन्द में उत्पन्न कर लेते हैं। यद्यपि वे उस कार्य से बंधे नहीं होते और न ही वह कार्य उनसे बंधा हुआ होता है। एक प्रकार का उत्सव का सा वातावरण वे बना लेते हैं और आनन्द में उसको शुरू करते है, आनन्द में उसको मनाते हैं और इस प्रकार आनन्द में उसको समाप्त करके पुनः सो जाते हैं।

इसी प्रकार कुछ महामानव जब वासनाओं के और कर्तव्यों के फन्दे से छूट जाते हैं तो वे अपने इष्ट के अति समीप हो जाते हैं। किसी न किसी प्रकार के मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं, सायुज्य मोक्ष, सामीप्य मोक्ष, सालोक्य मोक्ष और सारूप्य मोक्ष इत्यादि। तो ऐसे महामानव नया जन्म लेकर अपने इष्ट के साथ उसी प्रकार की मुक्त अवस्था में विचरते हैं। उनके हृदय में न कोई कर्त्तव्य होता है और न कोई कामना। बस, एक ही उनकी धारणा जो परिपक्व हो चुकी है, वह यह कि किसी भी प्रकार से अपने इष्ट के लोक में अथवा इष्ट के स्वरूप में अथवा इष्ट के सामीप्य में

या इष्ट की देह से जुड़कर किसी भी प्रकार से रहना है। यही उनके जीवन का लक्ष्य होता है जो जन्म–जन्मांतरों में उनके हृदय में प्रदीप्त हो जाता है और उसी में वे विचरते हैं।

ऐसे महामानव जीवनमुक्त होते हैं। उनके देह धारण या देह के नाम–रूप धारण करने के पीछे कोई भौतिक अर्थ नहीं होता। कोई आकांक्षा अथवा महत्वाकांक्षा नहीं होती और कोई संकल्प, विकल्प नहीं होता। वे मात्र अपने इष्ट के सामीप्य में आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हैं। जब एक अवस्था ऐसी आती है, कि वे इष्टमय हो जाते हैं, तो उनका पुनः–पुनः संसार में आना–जाना समाप्त हो जाता है और वे **कैवल्य मोक्ष** के अधिकारी हो जाते हैं। यद्यपि सगुण उपासक कैवल्य मोक्ष के इच्छुक नहीं होते। यहाँ तक जो हमने वर्णन किया, वह यह कि जीव की जन्म–जन्मान्तरों की दौड़ भौतिक वासनाओं और संकल्पों की पूर्ति के लिए है। इस दौड़ को निरर्थक दौड़ की संज्ञा दी जाती है। कारण, कि कोई भी संकल्प अथवा वासना की पूर्ति के पश्चात कोई अन्य वासना अथवा कामना अथवा संकल्प सम्मुख आ जाता है, तो इस प्रकार जीव की दौड़ समाप्त नहीं होती। वह कभी प्रसन्न हो जाता है, कभी दुखी हो जाता है, कभी विक्षिप्त हो जाता है तो कभी भयभीत हो जाता है, इत्यादि। अनेक भावों में और अनेक मानसिक स्थितियों में अपनी वासनाओं और कामनाओं के अनुसार विचरता रहता है और जो विचारशील जिज्ञासु एवं मुमुक्षु मानव हैं, वे सत्य को पकड़ लेने के बाद सत्य की अनुभूति होने के बाद यद्यपि जन्म–जन्मातरों में देह धारण करते हैं। देह के नाम–रूप धारण करते हैं और उन नाम–रूपों के साथ उनका एक संसार भी होता है तथापि वे किसी भी कामना, वासना या कर्त्तव्य से नहीं बंधते। यह दो प्रमुख कारण है मानव के जन्म–जन्मान्तरों की यात्रा के।

जब मानव जीवन की धारा के मध्य में प्रवेश करता हैं तो एक देह होती है और उस देह का एक नाम और एक रूप होता है और उस नाम–रूप के अनुसार उसका संसार होता है। जो जिस समय किसी की मानसिक स्थिति, वासनाएं या कामनाएं होती हैं, उस क्षण, उस देश अथवा काल में उस मानव का संसार उसी के अनुसार ही होता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। जैसा कि मैं अपने कुछ पहले प्रवचनों में बार–बार इसकी उदाहरणों सहित वर्णन कर चुका हूँ, कि जितना भी बाह्य जगत है,

वह हमारे भीतरी जगत का ही बाह्य प्रगटीकरण है और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वह एक अलग बात है कि जब हमारा भीतरी जगत बाह्य संसार में प्रगट होता है, तो इसको देखकर हम स्वयं कई बार विचलित हो जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं, विक्षिप्त हो जाते हैं और कई बार इसको देखकर हम प्रफुल्लित हो जाते हैं, आनन्दित हो जाते हैं।

वास्तव में हमारा बाह्य जगत हमारे भीतरी जगत का ही किसी विशेष देश अथवा काल में प्रगटीकरण है। **जब मानव की भीतरी वृत्तियाँ परिपक्व हो जाती हैं, तो वे मानस पटल से होती हुई बाह्य जगत बनकर प्रकट हो जाती हैं। सत्य यही है, यही वेदान्तिक सत्य है।** जब हमें बाह्य जगत से कुछ कष्ट अथवा विक्षेप की अनुभूति होती है, तो हमें अपने भीतरी जगत पर मनन एव चिंतन करने की आवश्यकता है। कुछ न कुछ त्रुटि हमारे भीतरी जगत में ही अवश्य निकल आती है। यदि इस त्रुटि को समाप्त कर लें और भीतर के विक्षेपों का समाधान कर लें तो उसी के अनुसार बाह्य जगत भी परिवर्तित हो जाता है, सुगम हो जाता है, आनन्दित हो जाता है। **जीवन में सत्संग का, सदगुरु एवं इष्ट का बहुत महात्म्य है। जो लोग इसके बिना जीवन बिता रहे हैं, मान लीजिए वो पशुवत् जीवन बिता रहे हैं।**

बुद्धि का अति तीव्र होना और भौतिक शिक्षाओं से परिपूरित होना ही मानव कहलाने के लिए पर्याप्त नही है। कोई भी भौतिक सम्पदा, भौतिक शिक्षा व भौतिक शक्ति हमारे दिव्य स्वरूप को प्रगट नहीं कर सकती। **यदि हम अपनी दिव्यता का प्रगटीकरण चाहते हैं, तो समस्त भौतिक उपलब्धियों एवं शक्तियों से हटकर हमें समर्पित भाव से और इष्ट में दृढ़ निष्ठा, विश्वास एव श्रद्धा से ही जीवनयापन करना होगा। जब इष्ट कृपा होगी, तो हमें जीवन के सत्य का दिग्दर्शन होता है और एक बार जब सत्य की झलक मिल जाती है, तो हमारी समस्त वासनाएँ, समस्त कामनाएं एवं समस्त संकल्प तुरन्त पूर्ण हो जाते हैं। एक विशिष्ट मानसिक संतुष्टि की अवस्था आ जाती है, जिसमें हम सन्तोष एवं परिपूर्णता से ठसाठस भर जाते हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है, कि जिस प्रकार जीवन में एक आनन्दमय**

ठहराव आ गया हो। कुछ करने के लिए शेष बाकी न रह गया हो और यदि कुछ हो भी तो वह कर्त्तव्य सा होता है। उसका कुछ विशिष्ट महत्व नहीं होता। ऐसे महामानव जीवनमुक्त होते हैं। उनको अन्य जन्म मिले अथवा न मिले, उन्हें इसकी परवाह नहीं होती और जब भी वे किसी जन्म की आकांक्षा भी करते हैं, तो मात्र उनमें अपने इष्ट से एक विशिष्ट भाव में जुड़े रहने की ही परिकल्पना एवं इच्छा होती है। सांसारिक इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति के पुरुष रात्रि को सोने से पहले अपने समस्त अधूरे कार्य अधिकतर समाप्त करके ही सोते हैं। ऐसे व्यक्तियों का जीवन बहुत सुचारु, ऊर्जावान एवं गतिशील होता है। वे किसी भी कार्य को कल पर नहीं छोड़ते। ऐसे महामानव बहुत संतुष्ट जीवन बिताते हैं। रात्रि में आनन्दमयी निद्रा के पश्चात् जब वे उठते हैं तो उस समय एक प्रेरणा से वे नया जगत निर्माण करते हैं और उसमें विचरने के लिए एक विशेष मन बनाते हैं और आनन्दमय उसका रसास्वादन करते हैं। अन्ततः अगली रात्रि को पुनः आनन्दमय सो जाते हैं। ऐसे महामानव एक विशिष्ट पहचान रखते हैं। यद्यपि उनकी एक मानव देह होती है। यद्यपि उनका भी एक नाम और रूप होता है, लेकिन वे देह के और देह के नाम–रूप के होते हुए भी मानसिक रूप से अपनी देह से नहीं बंधते। ऐसे महामानवों का एक संसार भी होता है। उनसे मिलने वाले कुछ लोग भी होते हैं।

जो व्यक्ति अपनी देह से नहीं बंधता, वह किसी अन्य से कैसे बंध सकता है? वह बंधा सा होता है ऐसा देखने वालों को लगता है, लेकिन वास्तव में वे लीला के लिए ही आते हैं। उनको अपने हृदय में किसी से अनुराग, शत्रुता या मित्रता इत्यादि नहीं होती। सभी उनको अच्छे लगते है। सभी विचारधाराएँ, सभी धर्म, वर्ण, सभी देश, समय, काल, काल की समस्त विधाएँ ऐसा लगता है मानों इष्ट ने उन्हीं के आनन्द के लिए निर्मित की हों। प्रकृति की प्रत्येक विधा, प्रत्येक सौन्दर्य उनके हृदय को आनन्दित करता है। जीवन का प्रत्येक पहलू उनके लिए एक विशिष्ट आनन्द की अनुभूति करवाने के लिए ही होता है और किसी भी व्यक्ति का उनसे मिलना और बिछुड़ना सब आनन्दमय ही होता है। यह परम गोपनीय रहस्य है। महामानव मात्र इसको लीला की तरह ही करते हैं। जिस

प्रकार कि महायोगेश्वर श्री कृष्ण का उदाहरण आपके सम्मुख है।

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी। कैसे होगी? कहाँ होगी? यह किसी को भी ज्ञात नहीं है। अतः **यदि हम आनन्दपूर्वक जीवन बिताना चाहते हैं और जन्म–जन्मान्तरों के तथाकथित कर्त्तव्यों के बोझ से हटकर आनन्दपूर्वक जीवन जीना चाहते हैं तो हमें नित्य का संकल्प नित्य ही निपटाना अति आवश्यक है। ताकि रात को सोते समय हम आनन्दपूर्वक निद्रा में सोएं और सुबह उठकर हम किसी नए विचार की धारणा करें, ताकि प्रतिदिन हमारा आनन्द के साथ ही विचरें।** जब हमें सत्संग द्वारा ज्ञान हो जाता है, कि संसार में आकर जितनी भी भौतिक अथवा सांसारिक वस्तुएँ हम एकत्रित करते हैं, वे हमको संसार से विदा होने के समय यहीं छोड़कर जानी होगीं, तो हमारी दौड़ वस्तुओं की प्राप्ति अथवा भोग की ओर न होकर हमारे भीतरी जगत की ओर हो जाती है। हम अपने उस खोए से आनन्द को प्रज्वलित करने के लिए, उसका प्रगटीकरण करने के लिए पुरुषार्थ करते हैं। दान–पुण्य, यज्ञ–हवन, जप–तप व भक्ति–भाव द्वारा ईश्वरीय मोह में डूब जाते हैं। ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध हो जाता है। जिस प्रकार हमें सांसारिक सम्बन्ध मिलते हैं, इसी प्रकार जब ईश्वरीय सम्बन्ध मिल जाता है, तो ईश्वर हमको ग्रहण कर लेता है। एक अद्भुत मानसिक स्थिति बन जाती है, एक विशिष्ट नशा सा हो जाता है। ऐसा नशा जो कभी भी नहीं उतरता।

नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिन रात।

तो ईश्वर के नाम की, ईश्वर के चिंतन की, ईश्वर के भजन की एक विशेष मस्ती होती है, जो कभी नहीं उतरती। जबकि सांसारिक वस्तुओं की, विशेष धन की या अन्य इस प्रकार की उपलब्धियाँ होती हैं, तो उन उपलब्धियों के बाद एक क्षणिक प्रसन्नता तो मिलती है, लेकिन दूसरे ही क्षण वे उपलब्धियाँ अपना अस्तित्व सा खो देती हैं। मानव कुछ अन्य नई उपलब्धियों के पीछे दौड़ने लगता है। इस प्रकार इस दौड़–धूप में ही कुछ वासनाओं को अधूरा छोड़े हुए वह इस संसार से चला जाता है। जब उसको अगला जन्म मिलता है, तो फिर उस छोड़े हुए कर्म की स्मृति आने के पश्चात् पुनः वह उसे करने लग जाता है। जन्म और मृत्यु के मध्य में जो भी हमारे

अनुभव होते हैं, उनका बहुत गहन चिंतन अति आवश्यक है। क्या इस संसार में इन छोटी–छोटी उपलब्धियों के लिए मैं भेजा गया हूँ? मेरी वास्तविक उपलब्धि क्या है? मेरी देह का नियत्रंण कौन कर रहा है? यह सब सद्‌गुरु अथवा इष्ट के सम्मुख बैठकर जानना और उस ज्ञान का मनन करना और मनन के पश्चात् नित्याध्यासन करते–करते इस ज्ञान की स्थिति में परिपक्व होना नितान्त आवश्यक है, नहीं तो हम इस निरर्थक दौड़ से छूट नहीं पाएंगे। हम इस जीवन रूपी अथाह सागर को किसी भी जन्म एवं मृत्यु के दो छोरों में बाँध लेते हैं और ऐसा मान लेते हैं कि बस यही संसार है, यही जन्म है, यही अवधि है। जबकि ऐसा नहीं है। यदि हम नित्य प्रति इष्ट के दरबार में बैठकर यह अध्यासन करें, मनन करें कि हमारा एक ऐसा स्वरूप भी है जो विदेह है जिसका कोई नाम व रूप नहीं है। तो उस स्वरूप का मनन करते–करते हम एक विशिष्ट आनन्दमय स्थिति को इष्ट कृपा से प्राप्त कर लेते हैं। संतों की और सदगुरु की कृपा से हम अपने उस विशिष्ट स्वरूप, उस सच्चिदानन्द स्वरूप का आभास और आत्मानुभूति कर लेते हैं। उसके बाद इस मध्य में हमारी देह और इसके नाम–रूप पर आधारित जितना भी संसार है, हम इसकी किसी विधा से नहीं बंधते। निर्बन्ध और स्वतन्त्र जीवन बिताते हैं। हमारा यह जन्म आनन्द से शुरु होता है, आनन्द में बीतता है और अन्त में आनन्द में ही समाप्त होता है। तो यह जीवन–मुक्त स्थिति है, जिसको प्राप्त करने के लिए हमें वास्तविकता का जानना अति आवश्यक है। मात्र अपनी वासनाओं, आकांक्षाओं, इच्छाओं एवं कामनाओं की पूर्ति ही हमारा लक्ष्य नहीं है, क्योंकि यह कभी समाप्त नहीं होती। जीवन समाप्त हो जाता है। तो हमको उस पूर्णकाम की अगुँली अवश्य पकड़नी होगी। अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का अध्यास एवं आभास करना होगा। उसकी एक झलक पाते ही हमारी समस्त कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, हमें एक संतुष्टि मिल जाती है, जो इस मध्य के जीवन को आनन्दमय बना देती है।

अन्ततः मानव जीवन का लक्ष्म मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष एक ऐसी मानसिक स्थिति है जिसमें समस्त मान्यताएँ, देह की मान्यता और देह पर आधारित दुनिया की मान्यताएँ छूट जाती हैं। यदि हम गहन विचार करें, तो हमारी मान्यताएँ हमको विक्षिप्त करती हैं। यह सांसारिक मान्यताएँ,

सम्बन्धों की मान्यताएँ, सम्पत्ति की मान्यता, धन की मान्यता और अन्य भौतिक मान्यताएँ जिनका कोई आधार नहीं होता, कोई लक्ष्य नहीं होता, ये हमको जन्म–जन्मांतरों तक भयभीत और त्रसित रखती हैं। जब हम एक परम ईश्वरीय मान्यता में अपना मन रमा देते हैं, जो कि जीवन की वास्तविकता है, तो उस एक मान्यता के ग्रहण करने से, संसार की समस्त अन्य मान्यताएँ अपना महात्म्य खो देती हैं। तो भले ही हम भौतिक देह को ग्रहण करें, भले ही हमारा भौतिक नाम और रूप हो, सम्बन्ध हों, तब हम मात्र अपनी आध्यत्मिक मान्यताओं में ही विचरते हैं। भौतिक जीवन तो मात्र तथाकथित होता है। तो सांसारिक मान्यताओं का बाध हो जाता है और जीवन को उस ईश्वरीय मान्यता में परिपूरित करके हम आनन्दपूर्वक जीते हैं। यही जीवन का लक्ष्य है, यही मोक्ष है, जिसकी प्राप्ति के लिए हमको अत्याधिक पुरुषार्थ करना होगा। इसी सत्य को पकड़ना होगा और उसका मनन, चिंतन एव नित्याध्यासन करते–करते विशिष्ट इष्ट कृपा से जब हमारी वह स्थिति परिपक्व हो जाती है, तो एक समय पर हमको इस सत्य की अनुभूति हो जाती है और जन्म और मृत्यु के मध्य का हम अति आनन्द उठाते हैं।

।। जय जय श्री राम।।

बुद्धि विवेक

आज का विषय अति विचारणीय के साथ अति रोचक एव फलदायक है। इस विषय में भौतिक बुद्धि एवं आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा परिपूरित विवेक का विवेचन किया जाएगा कि बुद्धि और विवेक में अन्तर क्या है? विवेकहीन बुद्धि किस तरह मानव के लिए घातक होती है? अैर विवेक के बुद्धि में पदार्पण के बाद किस प्रकार मानवीय जीवन दिव्य एव उत्तरोतर दिव्यतम बनता रहता है। जैसा कि हम महाकाल की विधाओं के प्रसंग में विचार प्रकट कर रहे थे, कि काल एक महासागर की नाईं है और जीवात्मा जब मानव कोटि में खेलती है, तो बुद्धि का भौतिक पदार्पण होते ही मानव, जन्म एवं मृत्यु के तथाकथित दो छोरों के बीच, उस महाकाल रूपी महासागर को बाँधकर एक तुच्छ से जीवन की सीमा में ही बंध जाता है। जिस प्रकार दो दिनों के बीच रात्रि का आगमन होता है, विश्राम के लिए निद्रा आती है, जिसके बाद हम पुन. तरोताजा होकर अपनी बुद्धि अथवा विवेकमयी बुद्धि के द्वारा खेलना शुरू कर देते हैं। जब हम मात्र बुद्धि का ही आश्रय लेते हैं, तो इसकी सोच द्वारा हम सम्पूर्ण ईश्वरीय व भौतिक सम्पदाओं को गणना में ले आते हैं और उन पर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं व उसे विस्तृत करना चाहते हैं। और अधिक, और अधिक, करते–करते हमारी जीवन यात्रा समाप्त होने लगती है और अन्ततः हम यहाँ की तथाकथित भौतिक उपलब्धियों को यहीं छोड़ कर मृत्यु के ग्रास में प्रविष्ट हो जाते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है, कि इस कालचक्र की रचना जो मानव ने अपनी भौतिक बुद्धि की सोच के द्वारा ही की है, जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है, लेकिन फिर भी इस अस्तित्वहीन कालचक्र में यह जन्म–जन्मांतरों तक भटकता रहता है और विभिन्न प्रकार के कष्टों को झेलता है। तो इस समस्त निरर्थक प्रक्रिया का स्त्रोत क्या है ? इसका प्रारम्भ कहाँ है? कारण क्या है और उनका समाधान क्या है? किस प्रकार हमारी भौतिक सोच हमें इस काल चक्र में जन्म–जन्मान्तरों तक घुमाती है।

यद्यपि समस्त महाकाल चक्र की समाप्ति मात्र विवेक के उत्पन्न होने से ही हो जाती है। जब उस महाकालेश्वर की शरण में हम नतमस्तक हो जाते हैं, स्वयं का सम्पूर्ण समर्पण कर देते हैं तो कभी–कभी विशिष्ट प्रभु कृपा होने पर हम समस्त इस

तथाकथित महाकाल चक्र के विभिन्न कष्टों से विमुक्त हो जाते हैं। यह अपने में एक बहुत रोचक विषय है। यदि हमने अपने जीवन की सीमाओं को तथाकथित जन्म और मृत्यु के दो छोरों में ही बाँध रखा है, तो उसका भी अधिकतम सदुपयोग हम कैसे कर सकते हैं, ताकि हम इस काल चक्र के अति विदीर्ण एव कष्टमय पहलू से निकल कर अपना जीवन अति सुखद एवं आनन्दमय बिता सकें। तो यही उद्देश्य है इस महाकाल सागर को महाकाल चक्र में बाँधने वाले मानव को विभिन्न प्रकार के कक्षों से उभारने का, बाहर निकालने का, जिसके लिए विवेक बुद्धि का होना अति आवश्यक है। यदि इस विषय को आप अर्न्तनिहित करना चाहते हैं, इससे अतिशय हित चाहते हैं, यहाँ मैं लाभ का विवेचन नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि लाभ, भौतिक लाभ की गणना में आता है, जबकि हित, हित–चिंतन अध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए, आनन्दमय जीवन के लिए आता है। हो सकता है कि कभी हमको जीवन में लाभ की जगह जिसको हम भौतिक लाभ कहते हैं, कुछ हानि भी हो जाए, लेकिन फिर भी उससे अगर हित होता है, हमे जीवन के वास्तविक स्वरूप का आभास होता है, ज्ञान होता है, तो हमें उस हानि की भी कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

इस विषय पर ध्यान देने वालों को, इसमें प्रवेश करने वालों को अपना हित चिंतक होना है। ईश्वर में मान्यता, ईश्वर के नाम–रूप में मान्यता और ईश्वर के साथ सम्बन्ध, ये इस विषय की पकड़ के लिए और जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए अति आवश्यक हैं। नाम व रूप का उल्लेख मैंने आपकी सुविधा के लिए किया है। यद्यपि ईश्वर के निराकार एव अरूप अस्तित्व को मैंने नकारा नहीं है लेकिन जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, कि ईश्वर के निराकार स्वरूप के सान्निध्य के लिए हमें अपने साकार और नाम–रूप से बंधे हुए स्वरूप से हटना भी अति आवश्यक है। तो सर्वोत्तम मार्ग जो बहुत सुरुचिपूर्ण है, वह मैं अपने अनुभव के आधार पर रख रहा हूँ, कि ईश्वर की मान्यता जब नाम–रूप में करते हैं, तो उसके साथ उसका सामीप्य, उसका सान्निध्य बहुत आसान हो जाता है और यह मार्ग बहुत सुरुचिपूर्ण हो जाता है। यहाँ विशेष विचारणीय विषय यह है कि मानव शिशु धीरे–धीरे जब होश सम्भालता है, अबोधता से बुद्धि के विकास की ओर अग्रसर होता है, तो धीरे–धीरे उसे अपनी भौतिक प्राप्तियों का ज्ञान प्राप्त होता रहता है। एक तो

वह प्राप्ति होती है, जो उसे स्वतः ही होती है, उदाहरण के लिए उसकी पैतृक सम्पदा, सम्पत्ति अथवा पैतृक अधिकारी का प्रयोग इत्यादि और बुद्धि के उत्तरोतर विकास के साथ वह भौतिक जगत में और अग्रसर होना चाहता है। उस सम्पत्ति को वह बढ़ाना चाहता है। अपनी भौतिक विद्याओं के बल वह किसी न किसी पद को पाना चाहता है। तो धीरे–धीरे वह अपनी भौतिक शक्तियों का अर्जन करने में व्यस्त हो जाता है और इस प्रकार उसका जीवन बीतने लगता है। फिर विवाहित होता है, संतान होती है और उसकी सोच अपनी संतान की उन्नति की ओर और उनके भौतिक विकास की ओर लग जाती है। साधारणतः प्रत्येक मानव सम्पूर्ण जीवन अपनी भौतिक वस्तुओं और भौतिक शक्तियों के अर्जन, निरतर उनके विकास और सब प्रकार से उनकी सुरक्षा की ओर व्यस्त रहने में ही बिताता है। अन्ततः यदि वह अपनी बुद्धि द्वारा ज़रा विचार करे, तो उसे ज्ञात होगा कि मृत्यु के समय उसकी अपनी समस्त भौतिक उपलब्धियों और यह भौतिक शरीर यही छोड़कर जाना होगा। यह नितांत सत्य है।

कुछ महामानव जैसा कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, इस सत्य को अपने बाल्यकाल में अन्तर्निहित कर लेते हैं और वे समस्त जीवन की उत्कृष्ट भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति की परिकल्पना कर लेते हैं कि अमुक–अमुक वस्तुओं की प्राप्ति के बाद भी मुझे क्या मिला? क्या हो जाएगा, क्या परिवर्तन होगा मेरे जीवन में यदि वे वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं तो फिर क्या हो जाता? तो कुछ अन्य प्राप्तियों की दौड़ की आकांक्षा फिर उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार के विचार जब मानव मस्तिष्क में उठने लगते हैं, तो उसे इस निरर्थकता का भास होने लगता है और जीवन को नियंत्रित करने वाली मानव बुद्धि सार्थकता की और सोचने लगती है, सत्य की ओर दिग्दर्षित एवं सत्य का आभास करने के लिए प्रयास करने लगती है। कभी न कभी ऐसे जिज्ञासु मानव को कोई संत, कोई सद्गुरु अवश्य मिल जाता है। जीवन की धाराएँ बदल जाती हैं, तो उसे ज्ञान होने लगता है कि वह कहाँ से व क्यों आया है इस धरा पर? उसको कहाँ जाना है? उसका लक्ष्य क्या है? वह चाहता क्या है? उसका प्रति पल, प्रति क्षण कैसे बीतना चाहिए? जब उस सत्य की एक झलक इसको मिलती है, तो जीवन के समस्त क्रिया–कलाप अपना स्वरूप बदल लेते हैं।

आम लोगों से उसकी दिनचर्या भिन्न हो जाती है। ऐसे लोग कभी–कभी साधारण मानवों द्वारा चर्चा एवं आलोचना के पात्र बन जाते हैं। यद्यपि ऐसे महापुरुषों को इसकी कोई परवाह नहीं होती।

जब मानव बुद्धि विवेकमय हो जाती है, तो वह दिव्य हो जाती है। दिव्य बुद्धि से उसे ज्ञान हो जाता है कि, 'अरे! मैं तो उस कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड नायक, उस परम ईश्वरीय सत्ता की साक्षात् संतान हूँ। मैं तो जन्म–जन्मातरों में उस परम ईश्वरीय सत्ता से सम्बन्धित इस सम्पूर्ण बह्माण्ड के समस्त ऐश्वर्यों का अधिकारी हूँ। यहाँ का समस्त वायुमंडल, पृथ्वीमंडल, आकाशमंडल और इसकी समस्त निधियाँ एव ऐश्वर्य मेरे लिए हैं।' जब इस प्रकार के परम उत्कृष्ट विचार इसके मस्तिष्क में कौंधने लगते हैं, तो तुच्छ चीजों पर अधिकार और मेरे–पन की इसकी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। यह स्वतन्त्र सा होने लगता है और अपने इष्ट की सानिध्यता की ओर बढ़ने लगता है। ऐसे लोग अति विचारवान होते हैं। **सोच, भौतिक बुद्धि का कर्म है, जबकि विचार विवेक बुद्धि का अथवा आध्यात्मिक बुद्धि का कर्म है।** विचारवान व्यक्ति चिंतन एवं मननशील होते हैं। उनका मन एवं चित्त इस सत्य का ही चिंतन करता है। सत्य के मनन, चिंतन के बाद ध्यान करते हैं। अपने इष्ट की समीपता में ध्यान द्वारा जो अनुभूति होती है, उसका नित्याध्यासन करते हैं। **नित्याध्यासन का अर्थ है निरंतर उसी सत्य पर क्रमश. विचार करते रहना और उस पर ही सत्य की परिपक्वता करना कि यही सत्य है, यही सत्य है। नित्याध्यासन करते–करते वही साधक एक दिन इस सत्य में सिद्ध हो जाता है**। उसके श्वास में, उसके जीवन के एक–एक क्षण में, उसके रोम–रोम में यह सत्य समा जाता है। उसकी आत्मा में सत्य समा जाता है, कि वह परम पिता परमेश्वर की संतान है और परमेश्वर द्वारा निर्मित इस सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड की प्रत्येक सम्पदा पर, प्रत्येक ऐश्वर्य पर उसका अपना अधिकार है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके लिए हैं। उसके खेलने के लिए हैं। उसके आनन्दित होने के लिए ही हैं।

जब हम मानव की उत्कृष्ट बुद्धि जो भौतिक पदार्थों के अर्जन एव निरन्तर विकास की ओर लगी होती है, उसका यह परिवर्तन दखते हैं, तो वही बुद्धि परम

विचारवान व विवेकशील कहलाती है। उस मानव को हम जिज्ञासु कहते हैं और जिज्ञासु इस महाब्रह्माण्ड का आनन्द लेते हैं। उन्हें परम सत्य की अनुभूति होने लगती है। वे विवेकशील मानव अपने जन्म–जन्मान्तरों के पड़े हुए मल एवं विक्षेप से दूर हो जाते हैं और उनका आवरण हट जाता है और उन्हें अन्तिम सत्य की झलक मिल जाती है। यही पर विशेष विचारणीय बात यह है कि किसी वस्तु की प्राप्ति के बाद उसके भोग का अधिकार मिलना एक अलग क्रम है। कोई व्यक्ति यदि व किसी भौतिक वस्तु का, पद का व शक्ति का प्राप्तकर्त्ता है तो यह आवश्यक नहीं, कि उसे उनको भोगने का अधिकार भी हो। पदार्थों का भोग करना एक दूसरा क्रम है। **ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ मानव जब कुछ भौतिक वस्तुओं का भोग करते हैं, तो यह आवश्यक नहीं कि वे वस्तुएँ उनकी अपनी हों या उनको प्राप्त हों। उदाहरण के लिए धन को कोई कमाता है और भोगता कोई और है। सम्पत्ति को, सम्पदा को कोई और बनाता है, घर, मकान किसी और का होता है और रहता कोई और है। पदवी किसी और की होती है और उसके अधिकारों का प्रयोग कोई और करता है।** यह हमारे नित्य के जीवन में देखने के अनुभव हैं, जिसको प्रत्येक व्यक्ति ने लगभग अनुभव किया होगा।

इसी प्रकार **जब किसी विचारवान, किसी जिज्ञासु को यह आभास हो जाता है कि वह ईश्वर की संतान है और ईश्वर द्वारा निर्मित सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पर और उसके भोग पर उसका अपना अधिकार है और वह उसके लिए है,** तो इस विशुद्ध विचार के बाद भी क्या वह उनके प्रयोग का अधिकारी हो जाता है? ऐसा संभव नहीं है। **मनन, ध्यान, नित्याध्यासन और अंत में उसका सिद्ध होना आवश्यक है। जब यह सत्य विचार किसी मानव के सूक्ष्म जगत में मानस पटल पर अंकित हो जाते हैं तो मान लीजिए, कि वह सिद्ध पुरुष है। उस विशेष सिद्धि के बाद ही इसकी यह अवस्था आती है, कि ऐसे महापुरुषों को सारा जगत अपना समझने लगता है और सारा जगत उनके अपने हृदय में समा जाता है। यहाँ की प्रत्येक विधा पर, प्रत्येक वस्तु पर प्रत्येक भोग पर उनका**

अधिकार हो जाता है।

भौतिक बुद्धि की सोच द्वारा हम सारा जीवन अपनी भौतिक प्राप्तियों और उन प्राप्तियों की सुरक्षा में ही निरर्थक बिता देते हैं और अन्ततः वे वस्तुएँ हमको छोड़नी पड़ती है। जो वस्तुएँ हमें भौतिक जगत में प्राप्त होतीं हैं, उनको मानव लेकर पैदा होता है। तो उसके पीछे यह रहस्य है कि जो–जो इस जन्म की भौतिक उपलब्धियाँ इसके मानस पटल पर अंकित होतीं हैं, वे ही अगले जन्म में भी इसके साथ ही चलती हैं और समय–समय पर उसी प्रकार की मिलती–जुलती सम्पदाएँ व वस्तुएँ स्वतः ही इसके समुख प्रकट होने लगतीं हैं। जिनके भोग का भी यह अधिकारी होता है। आध्यात्मिक जगत में आने के पश्चात् मानव को सम्पूर्ण ईश्वरीय सम्पदा अपने लिए लगने लगती हैं। वे भी इसके मानस पटल पर अंकित हो जाती हैं। जन्म–जन्मान्तरों में वे कभी भी साफ नहीं होती, बल्कि इसके ईश्वरीय अधिकार बढ़ते रहते हैं और किसी विशेष जन्म में आकर ऐसे सिद्ध पुरुष पैदा होते हों मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के भोग के अधिकारी हों, इस प्रकार की धारणा लिए हुए पैदा होते हैं। बचपन से ही इनमें दिव्यता होती है। वे किसी भी भौतिक सम्बन्ध से नहीं बंधते। किसी भी भौतिक वस्तु से नहीं बंधते, बल्कि संसार के सारे सम्बन्ध व संसार के ऐश्वर्य की समस्त वस्तुएँ इनकी ओर स्वयं ही दौड़ने लगतीं हैं। तब भी इनके हृदय में इनका कोई महात्म्य नहीं होता।

पर्वतों पर हिमखण्डों के पिघलने से बनी विभिन्न असंख्य जल धाराएँ उत्पन्न होती हैं, नदियों में मिलती हैं और यह उफनती हुई नदियाँ सागर की ओर भागती रहती हैं और अन्ततः सागर में विलीन हो जाती हैं। सागर इन नदियों की ओर कभी नहीं दौड़ता। सागर से मेघ उठते हैं और वे मेघ उन पर्वत शिखरों पर वर्षा करते हैं। हिमपात होता है, हिमखण्ड बनते हैं और इन हिमखण्डों के निरन्तर पिघलते रहने से पुनः वे विशाल नदियों का स्वरूप धारण कर लेते हैं, जो भागती–दौड़ती अन्ततः बार–बार सागर में विलीन होती रहतीं हैं। ऐसे ही महापुरुषों के उत्पन्न होते ही संसार के समस्त ऐश्वर्य, समस्त निधियाँ एवं सम्पदाएँ इनकी ओर दौड़ने लगतीं हैं। इनका हृदय विशाल होता है सागर की तरह। तो ऐसे महापुरुष इस संसार में आते ही अथाह निधियों के और सम्पदाओं के अधिकारी होते हैं। उनको कुछ भी नहीं करना

पड़ता। ये पैदा होते ही बहुत बड़े दाता होते हैं। जैसे–जैसे ये महापुरुष होश सभालते हैं, अपना समस्त जीवन मानवता के लिए अर्पित कर देते हैं। ये कुछ भी एकत्रित नहीं करते, बल्कि सब कुछ बाँटते रहते हैं। ये लीला करते हैं। सांसारिक सम्बन्धों में या भौतिक सम्बन्धों में भी यह नही बंधते। मात्र, किसी माता–पिता से जन्म लेते हैं। इनका पालन–कर्त्ता कोई और, इनको खिलाने वाला कोई और व ज्ञान और विद्या देने वाला कोई और होता है। इनका एक अपना आध्यात्मिक जगत होता है और जिस जगत में यह विचरते हैं, उस जगत में इनका कोई भौतिक सम्बन्ध नहीं होता। खुला जगत होता है। अति घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी उन सम्बन्धों से यह बंधते नहीं है, यह खुले होते हैं, स्वतत्र होते हैं, मस्त होते हैं। इसी प्रकार इनका जीवन आनन्दमय बीतता है। आनन्द में इनका जीवन शुरु होना है, आनन्द में चलता है और अन्ततः मृत्यु के समय आनन्द में ही देह त्यागते हैं और पुनः आनन्द में, ही देह धारण करते हैं। यह ईश्वरीय लोग होते हैं। आध्यात्मिक लोग होते हैं और इस धरा पर लीला करने के लिए ही आते हैं। जैसे भगवान कृष्ण का चरित्र और अन्य अवतरित पुरुषों का जीवन आपने सुना होगा। इनको यहाँ की किसी भी सम्पदा से कोई लगाव नहीं होता। ये यहाँ पर सब कुछ बाँटने के लिए ही आते हैं। ज्ञान को बाँटते हैं, अपनी शारीरिक व बौद्धिक शक्तियों को ये मात्र परोपकार के लिए प्रयोग करते हैं। इनका जीवन अनुकरणीय होता है, विचारणीय होता है। कभी–कभी तो साधारण मानवों के लिए ये लोग आलोचना का विषय बन जाते हैं, रहस्य का विषय बन जाते हैं।

कितना अंतर है एक भौतिक बुद्धि की सोच में और विवेक बुद्धि के विचारों में। तो क्यों न समस्त जीवन हम अपनी भौतिक सोच से उठकर विचारमय चिंतनमय उस विवेक बुद्धि में परिवर्तित कर बिताएं। दाता प्राप्तकर्त्ता से सदा बड़ा होता है। ऐसे महामानव सदा दाता बने रहते हैं। उनके हृदय में सम्पूर्णता होती है। अपने पास कुछ प्राप्ति न होते हुए भी ऐसे लोग विचारों द्वारा सम्पन्न होते हैं। इनका प्रत्येक श्वास, जीवन का प्रत्येक पल दूसरे लोगों के लिए होता है, क्योंकि स्वयं में यह परिपूरित व पूर्ण होते हैं। जीवन का यही परम लक्ष्य है। मानव बुद्धि का प्रयोग मात्र हम उस परम ईश्वरीय सत्ता द्वारा निर्मित इस संसार महानाट्यशाला के प्रत्येक

पहल का दिग्दर्शन करते हुए इसकी प्रशंसा करने में करें, क्योकि उसका प्रत्येक कृत्य, उसक प्रत्येक निर्माण प्रशंसा योग्य है। जैसा कि मैं अपने पहले प्रवचनों में कई बार उल्लेख कर चुका हूँ, कि जब मानव अपनी परम उत्कृष्ट बुद्धि द्वारा, जीवन मात्र जीवन के लिए ही जीता है, तो उस समय, उस मानव में और पशुओं में कोई विशेष अन्तर नही होता। लेकिन जब 'जीवन काहे के लिए है' ये विचार उठने लगते हैं, तो उस समय समझिए हम वास्तव में मानव–कोटि में आते हैं। इसके बाद जो भी हमारे कृत्य होते हैं, जो भी परिवर्तन होते हैं वे ही हमें वास्तव में मानव जीवन की सत्यता का आभास करवाते हैं। इस सत्य पर निरंतर विचार करना ही हमारा धर्म है। हमारा यही कर्त्तव्य है और शायद इसी कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए हमें बार–बार मनुष्य जन्म मिलता है, ताकि हम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सके। अपने वास्तविक आनन्द से ओत–प्रोत हो सके और स्वयं को उस महान ईश्वरीय सत्ता की संतान कहलाने के अधिकारी बन सके!

।। जय जय ही राम।।

वरदान

महापुरुषों ने जन सेवार्थ कुछ विशेष अति विस्तृत कार्य–सिद्धि हेतु बड़े–बड़े अभियान चलाने के लिए विशाल साम्राज्य स्थापित करने व भीष्ण युद्ध जीतने के लिए और विशिष्ट संकल्पों को पूरा करने के लिए विशिष्ट ईश्वरीय शक्तियों की साधना की। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्य ईश्वरीय शक्तियों की और देवी–देवताओं के पूजन, मनन, चिंतन ध्यान, यज्ञ हवन, जप, तप, न जाने विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा उन्हें प्रसन्न किया एवं उनसे वरदान लिए। जैसा कि कुछ सौ वर्षों पहले गुरू गोविन्द सिह जी महाराज के जीवन में एक उदाहरण आता है, कि वे जब आतताई मुगलों के विरूद्ध युद्ध करने के लिए उतरे, तो उन्होंने भगवान शिव की पत्नी शिवा अर्थात् चण्डी से, शक्ति से, भवानी से यह वरदान लिया कि,

या हि शिवा वरदेहि मुझे शुभ कर्मन ते कबहुँ न डरूँ,
न डरूँ अरिसों जब जूंझ पडूँ, निश्चय कर अपनी जीत करूँ।।

माँ भवानी से वरदान माँगा कि, हे माँ ! मुझे वरदान दे, कि जब मैं युद्ध के मैदान में कूद पडूँ, तो अभय होकर मैं शत्रु पर विजय प्राप्त करूँ, इत्यादि।

अब विचारणीय बात यह है कि यदि हम किसी बड़े कार्य को करना चाहते हैं, जो हमारी भौतिक और शारीरिक क्षमताओं से बाहर हो या जिसको हम अपनी बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों से बाहर समझते हैं, तो यह आज के युग मे सबके लिए सम्भव नहीं है, कि हम दैवीय शक्तियों को जप–तप द्वारा प्रसन्न कर सकें, उनका वरदान पा सकें, लेकिन वरदान चाहिए। **वरदान वह दैवीय सम्पदा है, जो हमारे भीतर के जगत को परिवर्तित कर देती है उन्मुक्त कर देती है हमें। एक ऐसी विशिष्ट शक्ति है जिससे कि हम असाधारण से असाधारण काम कर सकते हैं।** जीवन छोटा सा है और इस छोटे से जीवन में अति विशिष्ट कार्य करने के लिए, असाधारण मानव बनने के लिए हमको वरदान चाहिए, हमारे सिर पर वरद हस्त चाहिए। इस विषय पर अपने अनुभव को मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत करता हूँ। वरदान मात्र दैवीय शक्तियों से प्राप्त नहीं होते। वरदान किसी भी असहाय जीव–जन्तु मानव कोटि में किसी भी व्यक्ति या व्यक्तित्व से प्राप्त किया जा सकता है। कैसे आप मुझसे सहमत होंगे कि कभी–कभी जीवन में ऐसी

परिस्थिति अवश्य आ जाती है, कि जब शारीरिक रूप से, धन एवं आर्थिक दृष्टि से बहुत सशक्त व्यक्ति भी अपने आपको दीन और हीन मानने लगता है। पद के दृष्टिकोण से अपने आपको बहुत उच्च समझने वाला व्यक्ति भी कभी बहुत असहाय हो जाता है। इसके अतिरिक्त रोग की स्थिति में, दोष की स्थिति में और कई प्रकार की दैवीय आपदाओं की स्थिति में भी कोई व्यक्ति असहाय होकर ईश्वर के सम्मुख एक आर्त्तनाद कर उठता है कि, "हे प्रभु! इस समय मात्र तुम्हीं मेरी सहायता कर सकते हो।" बड़ी विकट स्थिति होती है, कि जब जीवन में चहुँ ओर अंधकार ही अंधकार नज़र आता है। ऐसी स्थिति कभी अत्याधिक शक्तिशाली मानवों के जीवन में भी आ जाती है। ऐसी स्थिति में जब कोई मानव त्राहि–त्राहि कर उठता है, प्रभु की पुकार करता है व उसी पर आधारित हो जाता है, तो उसका दैवीय व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है। यह दूसरी बात है कि उस समय वह अपने उस दैवीय व्यक्तित्व से और अपनी दैवीय शक्तियों से स्वयं कोई कार्य नहीं ले सकता। अब यहाँ पर बहुत विचारणीय विषय है, कि ऐसी कठिन स्थिति में उसकी सहायता के लिए जब कोई अन्य मानव पहुँच जाता है, तो यहाँ पाँच विभिन्न अवस्थाएँ हैं–

प्रथम अवस्था में सहायता पहुँचाने वाला मानव उस आर्त्तनाद करते हुए, तड़पते हुए व्यक्ति को देखकर, उसकी दीनता का, उसके क्रंदन का लाभ उठाना चाहता है, भौतिक लाभ। उदाहरण के लिए कभी कोई रोगी किसी चिकित्सक के पास कराहता हुआ पहुँच जाए, तो वह चिकित्सक को उस समय ईश्वर के रूप में देखता है। उस समय यदि वह चिकित्सक उसकी दीन स्थिति का लाभ उठाना चाहे और उस रुग्ण मानव को हाथ लगाने से पहले उससे धन की माँग करे, तो यह प्रथम अवस्था है। वह कराहता हुआ व्यक्ति या उसके अभिभावक कहीं न कहीं से धन एकत्रित करके उस चिकित्सक के चरणों में डाल देते हैं। ऐसी अवस्था में कमाया हुआ धन कमाने वाले व्यक्ति को मात्र गर्त में डालने के अलावा और कुछ भोग नहीं दे सकता।

दूसरे महामानव वो होते हैं जो ईश्वरीय कृपा से ऐसे व्यक्तियों की सहायता के लिए पहुँच जाते हैं। लेकिन मायावश उनमें अभिमान आ जाता है। वह सहायता भी कर देते हैं। उसको उस मुसीबत से छुड़ा भी देते हैं, लेकिन स्वयं में बहुत अहंकार

से भर जाते है कि, "यदि मैं न होता तो तुम्हारा अमुक–अमुक अनर्थ हो जाता। तुम मृत्यु के ग्रास में चले जाते। यह मैं ही हूँ, जो तुम्हें मैंने बचा दिया है।" यह दूसरी अवस्था है।

तीसरी अवस्था यह है कि जब कोई आर्तनाद करते हुए, कराहते हुए व्यक्ति के पास पहुँच जाता है और वह उस व्यक्ति की सेवा करने से पहले उस व्यक्ति के धर्म को, जाति को, देश को और न जाने क्या–क्या देखने लगता है और मात्र किसी विशेष धर्म–कर्म के व्यक्तियों को ही सहायता पहुंचता है।

चौथी अवस्था में कुछ महामानव ऐसे होते हैं, कि जो उसकी सहायता मात्र यह समझकर करते हैं कि ईश्वर ने मुझे इसकी सहायता के लिए निमित्त बनाया है।

अंतिम और पाचँवीं तरह के विशिष्ट व्यक्ति वे होते हैं, जो उस कष्ट में पड़े मानव अथवा किसी भी जीव–जन्तु की सहायता केवल ईश्वर के नाम से करते हैं। आँखो में अश्रु लिए हुए उनका ह्रदय करुणा से भरा होता है, दया से परिपूरित होता है कि, 'हे प्रभु! तुमने मुझ पर अगाध कृपा की है, कि आपकी कृपा से ही मैं इसके काम आ सका हूँ। आप किसी के द्वारा भी यह कृपा कर सकते थे। आपकी मुझ पर अति कृपा है, कि मैं इस मानव के काम आया हूँ। यह एक विशिष्ट अवस्था है। ऐसे व्यक्ति वरदान पाने के अधिकारी होते हैं।

तो मैं पुनः दोहराऊंगा, **जब कोई मानव ईश्वर के नाम पर आधारित होकर किसी से सहायता के लिए आर्त्तनाद करता है, जब वह किसी विशिष्ट परिस्थिति में फँस जाता है और असहाय हो जाता है और उसकी सहायता के लिए कोई ऐसा व्यक्ति पहुँच जाए, जो मात्र ईश्वर की कृपा अपने ऊपर समझते हुए ईश्वर के नाम से ही उसकी सहायता करता है और उसकी सहायता करने में अपने ऊपर ईश्वर की कृपा मानता है, तो ऐसे व्यक्ति वरदान के योग्य हो जाते हैं।** वे ही वरदान जो दैवीय शक्तियों के पूजन, भजन, जप, तप, यश, हवन इत्यादि से मिलते थे, वे एक असहाय व्यक्ति की सहायता करने से मिल जाते हैं, बशर्ते कि वे दोनों ईश्वर पर आधारित हो जाएं और सहायता करने वाला ईश्वर के नाम से उसकी सहायता करे। यह एक विशेष तरंग है। ऐसे महामानव जब सहायता करने के पश्चात् अपने ह्रदय

में विशेष आनन्दों की अनुभूति करते हैं, तो उनको कोई भी सांसारिक वासना नहीं होती, न धन–सम्पत्ति की और न ही अन्य भौतिक पदार्थों की। उनको एक ही नशा होता है, वे परमात्मा से प्रार्थना करते रहते हैं कि **'हे प्रभु! किस प्रकार उनकी देह, उनकी बुद्धि और उनकी अन्य शक्तियाँ किसी के काम आ जाएं!'** तो ऐसे महामानव धीरे–धीरे दैवीय सम्पदाओं से युक्त हो जाते हैं।

सम्पदा दो प्रकार की होतीं है। एक **भौतिक सम्पदा,** हमारा नाम, यश, धन–सम्पत्ति, सन्तान, स्त्री पुरुष, हमारी पदवी और अन्य प्रकार की जितनी भौतिक शक्तियाँ है, वे हमारी भौतिक सम्पदा है और दूसरी प्रकार की सम्पदा **दैवीय सम्पदा** होती है, जो दिखाई नहीं देती और वह उस व्यक्ति को आनन्द से परिपूरित रखती है और मानव की मृत्यु के बाद भी उसके साथ चलती हैं। जबकि समस्त भौतिक सम्पदाएँ जीवन के अन्त होने पर यहीं की यहीं रह जाती हैं। **धन, सम्पदा, स्त्री–पुरुष और भौतिक डिग्रियों इत्यादि ये समस्त हमारी देह की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाती है, जबकि दिव्य सम्पदा व वरदानों की शक्ति जन्म–जन्मान्तरों तक साथ चलती है। कुछ व्यक्ति आप देखते होंगे कि पैदा होते ही वरद्–हस्त होते हैं, चमत्कारी होते हैं। उनका बचपन बड़ा अलौकिक होता है,उनकी बुद्धि बहुत उत्कृष्ट होती है, मानो उनका इस धरा पर आने का कारण अन्य मानवों के कल्याण के लिए, जीव–जन्तुओं की भलाई के लिए ही होता है। तो ऐसे व्यक्ति पूर्व जन्मों से दैवीय सम्पदाओं से लबालब भरे रहते हैं।**

मैं एक उदाहरण देकर इसका रहस्य आपके सम्मुख रखता हूँ। आपने सुना होगा कि रावण, माता सीता को लंका में उठा कर ले गया था और उन्हें अशोक वाटिका में कैद कर लिया था। वह अपने पति के विछोह में अति त्रसित, दुखी, भयभीत और रावण की राक्षसियों द्वारा नित्य सताई जातीं थी। उनको विभिन्न कष्ट पहुँचाए जाते थे। वह मानसिक रूप से अति पीड़ित हो गई। सीता माता को लक्ष्मी का अवतार माना जाता है, जो अपने में परम सशक्त है और वहीं हनुमान जी जब भगवान राम की अगूँठी लेकर माता सीता के सामने प्रस्तुत होते हैं, तो उस अगूँठी को देखकर वो बहुत प्रसन्न हो जाती हैं। उनके जीवन में नई आशा जाग्रत हो जाती

है। तो उस प्रसन्नता में यह असहाय अबला जो अति दीन, क्षीण नज़र आती है, सूख गई है जो अपने पति के वियोग मे, वही अशक्त सी अबला हनुमान जी को वरदान देती है *'अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता'*

कि, "हे पुत्र। तुम आठ सिद्धियों और नौ निधियों के दाता बन जाओ। तुम में इतनी शक्ति हो, कि तुम आठ सिद्धियाँ और नौ निधियाँ किसी को भी दे सकते हो, तुम्हारे स्वयं के पास तो होंगी ही। तो यहाँ प्रश्न यह उठता है कि–

अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता, असवर दीन जानकी माता

एक असहाय अबला इतना सशक्त वरदान देती है तो क्या वह अपने आपको, अपने कष्टों को, अपनी शक्ति द्वारा विमुक्त नहीं कर सकती थी'। यहाँ एक बहुत बड़ा दर्शन है, कि जब व्यक्ति किसी कष्ट में होता है, किसी मानसिक वेदना में होता है, तो उसकी स्वयं की कोई भी शक्ति उस पर काम नहीं करती। बहुत विशिष्ट तथ्य है, जब कोई भी व्यक्ति विशेष मानसिक कष्ट में होता है, तो उसकी अपनी विधाएं, अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ उसके अपने ऊपर काम नहीं करती, लेकिन शक्तियाँ होती हैं और जब उसकी कोई सहायता करता है, तो यह शक्तियाँ वरदान बनकर उसको प्राप्त हो जातीं हैं। **वरदान की बड़ी महिमा है। वरदान अपने में एक शक्ति है। जिसकी उपलब्धि के बाद मानव ऐसे कार्य जो कि साधारण बुद्धि नहीं कर सकती, मानव देह नहीं कर सकती, ऐसे कार्य बड़ी आसानी से, सुगमता से करने में समर्थ हो जाता है। यही नहीं वह उस समय रूपी रेत पर अपने पद चिन्ह छोड़ जाता है। इतिहास निर्माण कर जाता है और आने वाली पीढ़ियाँ सैकडों वर्षों तक उसको नमन करती है।**

तो यह वरदान का दर्शन है कि जब आपको जीवन में किसी की सहायता करने का मौका मिले उसको कभी मत चूकिए क्योंकि किसी का आशीर्वाद किसी का वरदान आपके भीतरी जगत में तुरन्त दिव्य परिवर्तन तुरन्त ला देगा। अब प्रश्न यह उठता है, कि जिन व्यक्तियों के ऊपर वरदहस्त होता है और जो दिव्य सम्पदाओं से युक्त होते हैं, भले ही वे भौतिक जगत में नगण्य हों, ऐसे व्यक्तियों की पहचान क्या हैं? यह बहुत आवश्यक विषय है। इस प्रकार के मानव जो दैवीय सम्पदाओं से युक्त

होते हैं, वे अपने में बहुत आनन्दमय जीवन बिताते हैं आनन्दित होते हैं। **ईश्वर में छः गुण हैं, ज्ञानवान, सौन्दर्यवान, सशक्त, ऐश्वर्यवान, ख्यातिवान एवं त्यागवान।** तो ऐसे महामानवों मे ईश्वर के इन छः गुणों का कुछ न कुछ अंश अवश्य आ जाता है। वे सौन्दर्यवान होते हैं, त्यागवान होते हैं, ख्यातिवान होते हैं, सशक्त होते हैं, ज्ञानवान होते हैं एवं ऐश्वर्यवान होते हैं। ऐसे व्यक्ति सदा हर्षित रहते हैं, उल्लास से परिपूरित, मुदित रहते हैं उनके चेहरे पर, अभय होता है–

न भय काको देत है, न भय का सो लेत है।

वे न किसी को भयभीत करते हैं और न किसी से भयभीत होते हैं। ऐसे व्यक्ति खुले होते हैं, न वे किसी से बंधते हैं व न स्वयं किसी को अपने साथ बांधते हैं। वे स्वतन्त्र होते हैं। ऐसे व्यक्ति भीतर से योगी होते हैं, आरोग्य होते हैं, सर्वसम्पन होते हैं। ईश्वरीय मोह से परिपूरित होते हैं, ईश्वरीय कृपा और आनन्द के सागर में हिलरी खाते हैं। अद्भुत जीवन होता है उनका। हर स्थिति में आनन्द, उनका कर्म आनन्दमय होता है, उनका धर्म आनन्दमय होता है, उनका खोना आनन्दमय, पाना आनन्दमय, उनका सुख आनन्दमय व उनका दुख भी आनन्दमय ही होता है।

।। जय जय श्री राम।।

उत्तराधिकार

आज अपने इष्ट प्रभु श्री हनुमान जी की दिव्य प्रेरणा से आपके सम्मुख बहुत सुरुचिकर विषय रखने जा रहा हूँ, जिसका हग सब लोगों के दैनिक जीवन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हैं, वह विषय है–**उत्तराधिकार**। जिसको Will भी कहा गया है वसीयत भी कहा गया है। यह उत्तराधिकार क्या है? इस वसीयत का प्रारूप क्या है, यह सत्य है अथवा असत्य।

समस्त भूमण्डल में जो कुछ भी है, वह सब मात्र ईश्वर का है। यदि कोई मानव इस पर अपना अज्ञानवश अधिकार समझने लगे और अपने जीते जी वसीयत लिखे कि, 'मेरी मृत्यु के बाद यह सम्पदा अमुक–अमुक व्यक्ति को मिले' तो देह का अन्त होने के बाद स्वतः ही, उसका स्वामित्व उस सम्पदा से न धन से समाप्त हो जाता है। तो वह व्यक्ति उस समय के लिए वसीयत लिख रहा है, कि जिस समय वह स्वयं भी उस सम्पदा से विमुक्त कर दिया जाएगा, क्योंकि मरणोपरान्त जो भी धन–सम्पदा किसी व्यक्ति की है, वह उसके अधिकार में नहीं रहती उसका अधिकार सम्पूर्ण भौतिक जगत में जहाँ–जहाँ होता है, मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है। तो जब हमारा स्वयं किसी वस्तु पर अधिकार नहीं रहेगा, तो यह हमारा अधिकार कैसे बनता है, कि हम किसी भी व्यक्ति को उस सम्पति की वसीयत करें या उत्तराधिकार दें।

उत्तराधिकार क्या है? **उत्तराधिकार का अर्थ बाद का अधिकार**। जैसा कि मैं स्पष्ट कर चुका हूँ, उस समय तो उस वस्तु पर हमारा अधिकार ही नहीं रहता, तो उस स्थिति को हम उत्तराधिकार नहीं कह सकते। गहन विषय है इसमें बहुत एकाग्रता की आवश्यकता है, कि किसी भी अपनी प्राप्त सम्पत्ति अथवा धन जिस पर हमारा उस समय अधिकार है, जब हम जीवित हैं और उसका अधिकार मृत्यु के बाद जब हमारे अधिकार से ही छीन लिया जायेगा, तो हमें उस समय किसी अन्य व्यक्ति को उसका अधिकार देने का ईश्वरीय नियम नहीं है। याद ऐसा करते हैं तो, यह ईश्वरीय दृष्टि में अपराध है। यहाँ की सम्पूर्ण सम्पदा, धन, सम्पत्ति जो भी इस पूरे ब्रह्माण्ड में है, वह सारी उस परमपिता परमात्मा की है। उसी ने कृपा करके सब मानवों को और सब जीव–जन्तुओं को रहने का स्थान और अपना जीवन निर्वाह करने का कोई न कोई ढंग कोई न कोई प्रतिभा अवश्य दी है, जिसका मैं बार–बार वर्णन कर चुका हूँ।

यदि आप अपने मित्रगणों या अपने सगे–सम्बन्धियों के बारे में बहुत सूक्ष्मता से विचार करें, व देखें कि जो वसीयत लिखने वाले हैं, उनकी मृत्यु के बाद अक्सर वे एक झगड़े का हेतु बन जाती है। आपस में मन मुटाव हो जाते हैं और कई बार कोर्ट–कचहरियों में जीवन के एक बहुत बड़े भाग तक चक्कर लगाने पड़ते हैं। मानसिक अशान्ति हो जाती है और धन–सम्पत्ति से आदमी हाथ धो बैठता है। परन्तु यदि हम किसी वस्तु पर अपना अधिकार छोड़ना चाहते हैं, तो वसीयत अथवा Will लिखवाने के बजाय हम उस सम्पदा को अपने जीते–जी किसी के नाम दे दें। जब हम जीते–जी अपने सम्मुख किसी भौतिक सम्पदा का त्याग करते हैं अथवा दान करते हैं, तो उसके आनन्दमय भोग की सुनिश्चितता अवश्य हो जाती है। उत्तराधिकार में यह जानना बहुत आवश्यक है कि **जब हम जीते–जी किसी को अपनी सम्पदा का अधिकार दे देतें है, तो वास्तव मे वही उत्तराधिकार है।** यदि हमने किसी सम्पत्ति को अपने सामने ही छोड़ा है, अपने जीते–जी ही छोड़ा है, तो जिस स्थान पर भी हम जाते हैं, उस सम्पत्ति का सुख हमको वहाँ पर भी अवश्य मिलता है यह एक ईश्वरीय नियम है, जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ।

यदि आप अपनी किसी सम्पत्ति अथवा धन का आनन्दपूर्वक भोग करना चाहते हैं तो उसके किसी भाग को अपने जीवन काल में ही किसी उचित पात्र को दे दीजिए, तो वह सम्पत्ति, वह धन या वह मायिक पदार्थ जिस माया को आप ईश्वर ध्यान में बाधा समझते हैं वही माया ऐसी स्थिति में आपके लिए महतारी बनकर उपासना में सहायक हो जाती है।

वसीयत लिखाने की प्रवृत्ति घोर तामसी है एवं अपराध में आती है। इसलिए हमें वसीयत लिखवाने के बजाय अपने हाथ से अपने जीवन काल में अपनी वस्तुओं को अपने सगे–सम्बन्धी अथवा उन व्यक्तियों को जो उनके सुपात्र है, प्रेम से भेंट कर दे अथवा दान कर दें। तो ऐसी स्थिति में जैसा कि मैं बता चुका हूँ, उनसे अच्छी वस्तुओं का भोग व आनन्द भी हमको मिलेगा और उनसे अच्छी वस्तुएँ हमको अवश्य समय पर शीघ्र प्राप्त भी हो जाएंगी। यह बहुत कठिन एवं विचारणीय विषय है। भगवान श्री राम ने अपना राजपाठ आनन्दपूर्वक अपने जीते–जी अपने सामने छोड़ा और वनवास ग्रहण किया। तो उनको वही राज–पाठ 14 वर्षों के बाद फिर मिला, लेकिन अति

सम्मान के साथ मिला। जिसको विश्व राम राज्य के रूप मे जानता है और आज भी श्री राम सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड के महासम्राट हैं। तो जब हम किसी भी भौतिक वस्तु को आनन्दपूर्वक अपने जीवन में जीते–जी छोड़ते हैं, किसी को देते हैं तो उसका अति महात्म्य है।

जहाँ तक हमारी आध्यात्मिक प्राप्तियों, शक्तियों और आध्यात्मिक उन्नति का प्रश्न है, इसका कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को उत्तराधिकार नहीं दे सकता। आध्यात्मिक सम्पदा अति सशक्त, सौन्दर्यमयी एव सर्वप्रकार के गुणों से विभूषित एवं आनन्द देने वाली है। तो ऐसी आध्यात्मिक सम्पदा को जब कुछ महापुरुष प्राप्त कर लेते हैं और जब उनके भीतर से वह प्रस्तुटित होती है, तो उसको कोई अन्य व्यक्ति बिना श्रद्धा के नहीं ग्रहण कर सकता। उस सम्पदा को ग्रहण करने के लिए बहुत उचित पात्र की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति को उस महापुरुष में अगाध श्रद्धा हो, अखंड एव अटूट परम विश्वास हो और जो सेवा भाव से और श्रद्धा भाव से उसके चरणों में पड़ा रहे, तो आध्यात्मिक शक्तियों का व आध्यात्मिक ज्ञान का एक अविरल बहाव स्वतः ही ऐसे श्रद्धालु की ओर हो जाता है। यह भी एक बहुत विचारणीय पहलू है। आध्यात्मिक सम्पदा को ग्रहण करने वाला साधक, अति श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास एवं आत्मसमर्पण के भाव से ओत–प्रोत होना अति आवश्यक है अन्यथा छल–कपट द्वारा किसी महामानव को प्रसन्न करके, उसके द्वारा लिया गया आध्यत्मिक ज्ञान, ब्रह्मचिंतन इत्यादि अन्ततः ऐसे व्यक्ति को घोर नारकीय जीवन में ले जाता है। यह चतुराई का विषय नहीं है, यह समर्पण का विषय है। यदि हम आध्यत्मिक शक्तियों या आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमको मात्र श्रद्धालु बनकर, नेत्रों में श्रद्धा के अश्रु लिए हुए आत्म–समर्पण के भाव से किसी भी महापुरुष के सान्निध्य में जाना अति आवश्यक है। यदि हम उसके सानिध्य में न भी जाएं, दूर हों तो भी उसके आध्यात्मिक ज्ञान के लिए, उस महापुरुष में श्रद्धा का और अटूट विश्वास का होना अति आवश्यक है। इस विशेष विषय का आज के जगत में विश्लेषण एव मनन अति आवश्यक है।

जब हम अपनी भौतिक उपलब्धियों को, अपने जीवन काल के किसी भी विशिष्ट समय में, ज्ञात अथवा अज्ञात व्यक्तियों के लिए छोड़ देते हैं तो उसी समय

हमें आनन्द की अनुभूति शुरू हो जाती है जो अपने में एक उपलब्धि है। यही नहीं बल्कि उससे अच्छी वस्तु का भोग हमारे लिए तुरन्त सुनिश्चित हो जाता है, यह भी एक आध्यात्मिाक सत्य मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। भले ही उस वस्तु की प्राप्ति के समय हम उसका भोग न कर पा रहें हों। तीसरा जो अकाट्य सत्य मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ वह यह कि **हमारी अचल सम्पत्ति हमें केवल उसी स्थान पर भोग देती है, जहाँ वह है। लेकिन जब हम उसका आनन्द में त्याग कर देते हैं, तो उसका भोग स्थिर रूप से हमारे लिए हो जाता है। हम जहाँ भी जाते हैं यद्यपि अचल सम्पत्ति हमारे साथ नहीं जा सकती तथापि हमें उससे भी अधिक सुख व भोग सब जगह अवश्य मिल जाता है।** यही नहीं अगले जन्मों में भी हमें उनका भोग उपलब्ध होता है और आनन्दमय जीवन की सुनिश्चितता होती है।

तो एक बात मैं और उल्लेख करना चाहूँगा, कि क्या हम सम्पूर्ण भौतिक वस्तुओं का उत्तराधिकार दे सकते हैं? मान लीजिए हमारे पास कुछ विशेष डिग्रियाँ हैं, क्या हम अपनी डिग्रियों को किसी को दे सकते हैं? क्या अपनी विशिष्ट कलाओं को, जैसे संगीत व नृत्य आदि किसी को दे सकते हैं? क्या हम अपना ज्ञान, उसी गहराई पर किसी को दे सकते हैं? क्या हम अपनी भौतिक शक्तियों में शारीरिक शक्ति को, अपनी मानसिक शक्ति को और अपनी बौद्धिक शक्ति को किसी को दे सकते हैं? यदि हम विचार कर देंखे तो हम अपनी समस्त भौतिक प्राप्तियो को भी किसी अन्य व्यक्ति को उत्तराधिकार में, देने का सामर्थ्य नहीं रखते। आध्यात्मिक जगत में यदि किसी महागुरु को 'आत्मज्ञान' होता है, तो उसको देने के लिए किसी सगे–सम्बन्धी के चयन की आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि इसका एक प्राकृतिक बहाव है। **जिन व्यक्तियों को ऐसे महामानव में श्रद्धा है। अटूट एवं अखंड विश्वास होता है और जिनमें आत्मसमर्पण का भाव होता है ऐसे व्यक्ति उस महामानव से स्वतः ही उसका आध्यात्मिक ज्ञान एव आध्यात्मिक शक्तियाँ बटोर लेते हैं।** लेकिन यहाँ एक विचित्र बात और है, कि जिस महामानव के पास यह आध्यात्मिक सम्पदा होती है हज़ारों लाखों लोगों में इसके वितरण के बाद भी उसकी सम्पदा स्वयं की कम नहीं होती, बल्कि वह और बढ़ती है। यद्यपि एसे महामानवों का

मानसिक दृष्टिकोण बहुत आवश्यक है। यद्यपि ऐसे आध्यात्मिक सम्पदाओं के प्राप्त होने के बाद भी कुछ मानवों का दृष्टिकोण संकीर्ण रहता है कि अमुक–अमुक शक्ति मैंने ऐसे तप से, ऐसे जप से और साधना से प्राप्त की हैं" जब यह भाव रहता है तो आध्यात्मिक शक्तियाँ भी संकुचित रहती हैं। परन्तु जब यह भाव आ जाता है कि यह समस्त शक्तियाँ भी ईश्वर कृपा से प्राप्ति हुईं हैं, तो वे शक्तियाँ भी असीम हो जाती हैं और उनकी कोई भी गणना उसके स्वयं के पास भी नहीं होती। मात्र उसमें श्रद्धा रखने वाले उस परम सत्य को प्राप्त कर लेते हैं व जीवन में शान्ति का अनुभव करते हैं। ऐसे महामानव जहाँ रहते हैं वहाँ एक विशेष आनन्द, शान्ति, संतोष और अन्य दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः ही होता है और उसके सान्निध्य में जाने वालों को इसका अनुभव अवश्य हो जाता है। यह एक नितान्त सत्य है।

तो ईश्वर के नाम से अपने जीवन काल में ही जो वस्तुएँ हमें एक दिन छोड़ने ही पड़ेगी, वे जब हम किसी ज्ञात अथवा अज्ञात मानव के नाम छोड़ देते हैं, तो उस प्राप्ति का आनन्द और उससे अच्छी प्राप्तियों का भोग और सुख, ये न केवल उस जन्म में, बल्कि अगामी जन्मों में भी उसका अधिकार हमारे साथ चलता है, भले ही वह वस्तु हमको प्राप्त हो अथवा न हो। आपने बहुत से मानवों के जीवन में देखा होगा, कि प्राप्ति के नाम पर उनके पास कुछ नहीं होता, लेकिन अधिकार बहुत होता है, मानो जैसे सम्पूर्ण विश्व की प्रत्येक सुख–सम्पदा मात्र उनके लिए हो। तो ऐसा उन्हीं महामानवों में सम्भव है, जो इस विश्व में आकर प्रभु चिंतन करते हुए जो भी वस्तु उनको मिलती है, जो भी प्राप्तियाँ उनको होती हैं, वे किसी पर भी अपना अधिकार नहीं जमाते, कि अमुक वस्तु उनकी है।

उत्तराधिकार के बारे में हमने जो आपके सामने प्रस्तुत किया है, इस पर अति मनन एव चिंतन की आवश्यकता है और यदि यह सत्य यह रहस्य हमारी आत्मानुभूति में आ जाए, तो हम एक अपराध से कि जो हम तथाकथित अपनी सम्पदा इत्यादि की वसीयत करके करते हैं, जिसके नाम करते हैं, वह भी और करने वाला भी बच जाता है। यदि हम किसी को कुछ देना चाहते हैं तो हम अपने जीवन काल में ही ईश्वर को साक्षी मानकर अपने अधिकार को छोड़ें। ऐसे छोड़ने से हमें इस संसार की वस्तुओं के आनन्दपूर्वक भोग का हमारा अधिकार सुनिश्चित हो जाता है।

यहाँ एक बात का मैं विशेष उल्लेख करना चाहूँगा, जैसा कि मैं वर्णन कर चुका हूँ, कि अपने जीवन काल में जब कोई मानव अपनी भौतिक उपलब्धियों का किसी ज्ञात अथवा अज्ञात व्यक्ति के लिए त्याग करता है, तो ऐसे महामानव में भीतर से दिव्य गुणों की जागृति हो जाती है। उसके अन्दर विशेष शान्ति, संतोष, मुदिता, उल्लास और ईश्वर की ओर प्रवृत्त होने की भावना, उसकी सानिध्यता के लिए किसी संत की तलाश और संत की प्राप्ति, सत्संग का अनुभव और न जाने कितनी दिव्य घटनाएँ स्वयं ही जीवन में घटने लगतीं हैं। उसको उस त्याग का एक आलौकिक आनन्द आने लगता है। त्यागमय जीवन ही उसके लिए जीवन का उद्देश्य रह जाता है। किसी भौतिक सम्पदा से, हार्दिक रूप से उसको कोई भी लगाव नहीं होता और न ही उसका कोई महत्व होता है। ऐसे महामानव अपने में परम संतुष्ट होते हैं। संतुष्टि मानवीय गुण नहीं है। यह एक ईश्वरीय गुण है। संतुष्टि का किसी वस्तु की प्राप्ति से अथवा उसके भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। मानो सम्पूर्ण विश्व की सम्पूर्ण सम्पदा उनके अपने अधिकार में हो। उन्हें किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती और वह एक विशिष्ट आनन्द में जीवन बिताते हैं। इससे ऊपर की एक स्थिति और है, जब किसी महामानव की यह मानसिक स्थिति बन जाये कि जो कुछ उसके द्वारा अर्पित किया गया है या जो कुछ का उत्तराधिकार उसने दिया है, वे सब कुछ ईश्वरीय था और ईश्वर की इच्छा से ही उसने किसी को समर्पित किया है, तो ऐसे भाव वाला मानव त्याग का भी त्याग कर देता है। ऐसे महामानव अपने में आलौकिक होते हैं, दिव्य होते हैं देव–तुल्य होते हैं। उनके ह्वदय में न केवल दैवीय गुण जाग्रत होते हैं, बल्कि वे उन गुणों में समाहित हो जाते हैं। वे गुण उनका स्वभाव बन जाते हैं। उनको अपने गुणों का ज्ञान नहीं होता। उनके श्वास, ह्वदय की एक–एक गति व जीवन का एक–एक क्षण मात्र परोपकार के लिए होता है। सारा विश्व उनकी देह बन जाती है। उनका चिंतन, मनन, जप, तप, हवन, दान, पुण्य इत्यादि समस्त महाक्रियाएँ मात्र सारे विश्व के कल्याण के लिए होती हैं और स्वतः होतीं हैं। यह स्वतः भाव यहाँ पर आवश्यक भाव है। उनका सारा जीवन एक यज्ञ हो जाता है। मात्र **भौतिक वस्तुओं का अधिकार जीवनकाल में छोड़ना वास्तव में उत्तराधिकार है और उस उत्तराधिकार के अधिकार का भाव छोड़ देना,**

यही समर्पण का समर्पण है, यही त्याग का त्याग है, जो अति विशिष्ट सतों की कृपा से और प्रभु की कृपा से प्राप्त होता है।

संसार में किसी भी मानव का जीवन जैसा कि मैं उल्लेख कर चुका हूँ, शून्य से शुरू होता है और अन्ततः शून्य में समाप्त हो जाता है। सभी इस संसार में खाली हाथ आते हैं और खाली हाथ ही इस संसार से चले जाते हैं। कोई भी भौतिक विद्याएँ, भौतिक प्राप्तियाँ हमारे साथ नहीं चलतीं। तो यदि हम शून्य के इस रहस्य को, मर्म को जान लें, तो हमें कुछ भी त्यागने में कोई संकोच नहीं होगा, बल्कि एक मानसिक प्रसन्नता होगी। पंच–महाभूतों से निर्मित यह मानव काया अन्ततः पंच महाभूतों में विलीन हो जाती है। थोडा पृथ्वी तत्व भस्म रूप में दृष्टिगोचर होता है, जो किसी भी नदी मे विलीन कर दिया जाता है, उसकी धारा में बहा दिया जाता है। यही मानव का अंत है। इस परम रहस्य का नित्याध्यासन करते–करते कोई भी महामानव इस त्याग के त्याग की स्थिति को, समर्पण के समर्पण भाव की स्थिति को अवश्य ग्रहण कर लेता है और उसके बाद साक्षात् मोक्ष का द्वार खुल जाता है, जिसका हम पहले वर्णन कर चुके हैं।

।।जय जय श्री राम।।

सन्यास

आज की संध्या में आपके समुख जीवन के अति उत्कृष्ट पहलू का विवेचन अपने इष्ट प्रभु श्री हनुमान जी की प्रेरणा एवं कृपा से करने जा रहा हूँ, इसका नाम है–**सन्यास**। सन्यास शब्द बहुत प्राचीन शब्द है। अति सार्थक शब्द है यह। सन्यास का नाम कानों में आते ही कोई भगवा वस्त्रधारी मानव जिसने संसार को त्याग दिया हो, जो विरक्त हो अथवा संसार से ऊपर उठ चुका हो, जो मानव देह के रहते हुए क्षमावान हो, कृपावान हो, दयालु हो, वास्तव में जो संत हो, सबके ऊपर जिसकी विहंगम, अति कृपा दृष्टि और समान दृष्टि हो, ऐसा सा महामानव उभर कर हमारे सम्मुख, हमारे ह्रदय पटल पर आ जाता है, जब हम सन्यास का नाम अथवा सन्यासी का नाम अपने मुख से लेते हैं।

वास्तव में सन्यास क्या है? सन्यासी कौन है? आज के इस युग में इसकी परिभाषा, इसकी विवेचना और इसका अति विस्तार से चिंतन होना अति आवश्यक है। जैसे–जैसे कलिकाल अग्रसर होता जा रहा है, सन्यास धर्म अपना स्वरूप खोता जा रहा है। इस सन्यासी वेश–भूषा के अन्दर बड़े–बड़े अपराध और न जाने कैसी–कैसी प्रवृत्तियाँ छिपी हुई हैं, जिनको यह सन्यासी वेश–भूषा कुछ काल के लिए तो आच्छादित कर देती है, लेकिन एक न एक दिन अक्सर जब इस वेश में छिपे हुए मानव का सत्य सामने उजागर होता है, तो कुछ लोगों को **तथाकथित संन्यासियों** से एक घृणा सी उत्पन्न हो जाती है। ऐसा लगने लगता है कभी–कभी कि इस वेश–भूषा को कुछ व्यक्तियों ने तो मानो प्रदूषित सा कर दिया है। **सन्यास का वास्तविक अर्थ है सांसारिक सुखों, धन, सम्पत्ति, अपने नाम व यश का प्रलोभन और जितने भी भौतिक सम्बन्ध है उनसे ऊपर उठकर आध्यात्मिक जगत में पदार्पण और उस आनन्दमयी स्थिति से ओत–प्रोत होकर सम्पूर्ण भौतिक जगत एवं भौतिक वस्तुओं से वीतराग की स्थिति।** तो वास्तव में संन्यास एक मानसिक स्थिति है जिसमे सांसारिक वस्तुओं को छोड़ना या पकड़ना कोई महात्म नहीं रखता, बल्कि वस्तुओं के होते हुए भी उनसे कोई मानसिक सम्बन्ध न होना महत्त्व रखता है। यदि संसार के प्रति या भौतिक वस्तुओं के प्रति ह्रदय में या मन–मस्तिष्क में कहीं भी लगाव हो, उनका महत्म्य हो, उनको

ग्रहण करने अथवा संग्रह करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो, तो ऐसी स्थिति में संन्यास की मानसिक स्थिति नहीं बन सकती। जैसा क मैं पहले के कुछ प्रवचनों में वर्णन कर चुका हूँ, कि **किसी भी वस्तु को पकड़ने के लिए कुछ छोड़ना अवश्य पड़ता है।**

जब हम किसी अधिक मोहक, अधिक आकर्षक और अधिक आनन्दमयी वस्तु को पकड़ लेते हैं या उसमें से आनन्द का अनुभव करने लगते हैं, तो तुच्छ सुख देने वाली सासारिक वस्तुएँ पास में होते हुए भी उनका महात्म क्षीण हो जाता है, वे निरर्थक सी लगने लगती हैं। सांसारिक सुख, भोगों से हमारा हृदय अति पूर्ण हो जाता है। मन–मस्तिष्क में उनका कोई भी महत्म्य नहीं रहता। मात्र लीला के रूप में हम उनसे खेलते हैं और उनका सुख मानव मस्तिष्क पर कभी भी हावी नहीं होता। यह तभी संभव है, जब हमें अपने उस सच्चिदानन्द स्वरूप की एक झलक मात्र मिल जाती है। मानव इस झलक को बार–बार पाने के लिए छटपटाने लगता है। उसके जीवन का आदि, अंत और मध्य मात्र उस अपने स्वरूप के दिग्दर्शन एव उसकी झलक पाने के लिए ही बीतता है। इस आनन्द की अनुभूति के बाद समस्त सांसारिक सुख बहुत तुच्छ एवं गौण से लगते हैं और उस मानसिक स्थिति का नाम है–**सन्यास।**

आपने सुना होगा कि हमारे मनीषियों ने मानव की आयु को 100 वर्ष तक मानते हुए 4 भागों में विभक्त किया है। प्रथम– 25 वर्ष **ब्रह्मचर्य**, उसके बाद के 25 वर्ष अर्थात् 50 वर्ष की आयु तक **गृहस्थ आश्रम**, और 50 से 75 वर्ष की आयु तक **वानप्रस्थ** और 75 से 100 वर्ष तक या 75 से आगे **सन्यास।** लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है, कि क्या 100 वर्ष की आयु का निर्धारण जो मनीषियों ने किया है अथवा माना है, यह कितने प्रतिशत मानवों में उतरता है? जीवन एक ईश्वरीय देन है और इसके एक क्षण का भी कहीं भरोसा नहीं रहता। तो इसका यह भौतिक वितरण या विभाजन जो 4 भागों में किया गया है, यह वैचारिक दृष्टि से तो खरा उतरता है, लेकिन वास्तविकता में इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। यहाँ वास्तविकता क्या है? इसकी विवेचना की परम आवश्यकता है कि क्या हम 75 वर्ष की आयु के बाद ही संन्यास के बारे में सोचें? या संन्यास ग्रहण करें? क्या सन्यास कोई भौतिक वस्तु है?

इस मानसिक स्थिति को जो जीवन के अन्तराल में अन्तिम दिनों में अथवा वर्षों में बननी चाहिए, इसका प्रयत्न मानव को होश सभालते ही करना पड़ेगा और नित्याध्यासन करते–करते एक समय ऐसा आ जाता है, कि भौतिक पदार्थों, वस्तुओं और भौतिक देह से कोई विशेष आकर्षण नहीं रह जाता। समस्त लालसाएं, आकांक्षाएं अथवा महत्वाकाक्षाएं क्षीण हो जाती हैं। तो यह मानसिक स्थिति मानव जीवन में किसी भी अवस्था में, आयु में या किसी भी समय में पदार्पित हो सकती है और उसी समय वह मानसिक रूप से सन्यासी हो जाता है। यद्यपि उस विशेष वेश–भूषा को ग्रहण करके वह घोषित सन्यासी नहीं होता और न ही उसकी वो आवश्यकता समझता है।

वास्तव में संन्यास एक मानसिक स्थिति है, एक शारीरिक वेश–भूषा का नाम संन्यासी अथवा संन्यास नही है। कई महामानव जैसे ही होश सभालते हैं उत्पन्न होने के बाद वे पैदाइशी ही सन्यासी होते हैं। उनको संसार की वस्तुओं के ग्रहण अथवा संग्रह की कोई भी लालसा नहीं होती। वे जन्मजात विरक्त होते हैं। उनके पास जो कुछ भी भौतिक पदार्थ होते हैं, उनको वे बाँट देते हैं। संसार से विरक्त होते हैं और कुछ मानव सम्पूर्ण जीवन भर भले ही उनकी आयु 100 वर्ष से अधिक हो, उनको सांसारिक वस्तुओं की लालसा बनी रहती है। उनकी संन्यासी जैसी वेश–भूषा हो सकती है, लेकिन मानसिक रूप से वे सन्यासी नहीं होते।

तो वास्तविक सन्यासी की पहचान क्या है? एक ऐसा व्यक्तित्व, एक ऐसा व्यक्ति जो अति उदार हृदय है, जो किसी बंधन से बंधा हुआ नहीं है। अपने नाम व यश की जिसको लालसा नहीं है। जो धर्मातीत है, किसी धर्म के बंधन के दायरे से बहुत परे है। जैसा कि मैं–वर्णन कर चुका हूँ, कि संसार में समस्त धर्म एक प्रकार की पवित्र नदियाँ है, जो अन्ततः अध्यात्म रूपी सागर में विलीन होकर अपने नाम और रूप की पहचान खो देती है और सागर के साथ मिलने के पश्चात वह स्वयं सागर का अंग बन जाती है। सागर में घुलमिल जाती है। वह सागर स्वरूप हो जाती है। इसी प्रकार एक सन्यास हृदय और संन्यास मानसिकता वाला व्यक्ति सर्व धर्मों से परे होता है, सभी धर्म उसी के होते हैं और उसका स्वयं का कोई भी धर्म नहीं होता। सब धर्मों को वह मान्यता देता है, उनका

सम्मान करता है, लेकिन किसी भी धर्म से वह बंधा हुआ नहीं होता। बल्कि धर्मों का जो अन्तिम लक्ष्य यह है उस अध्यात्म रूपी सागर में विलीन होना एवं उस सच्चिदानन्द स्वरूप का दिग्दर्शन अथवा झलक पाना ही वास्तव में अन्तिम सत्य है।

अपनी चेतन सत्ता का अर्थ प्राप्त करना कि, मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मैं कहाँ जाऊँगा? क्यों लाया गया हूँ मैं, इस पृथ्वी पर इत्यादि–इत्यादि? यही संन्यासी का परम लक्ष्य होता है। उसके कर्मों की दिशा बदल जाती है, कि जीवन काहे के लिए है? तो संन्यासी का दूसरा लक्षण है कर्मातीत, कर्त्तव्यातीत। उसका कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। इस भौतिक जगत में सारा संसार लगभग कर्मों एवं कर्तव्यों के बोझ से और बन्धनों में जकड़ा हुआ है, बोझिल है। लेकिन सन्यास हृदय व्यक्ति किसी भी कर्त्तव्य अथवा कर्म के बन्धन में नहीं बंधता। वह इस सत्य को हृदय से ग्रहण कर लेता है कि संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जो उसके बिना न हो। उसका कुछ भी करना मात्र एक लीला होती है उसके हृदय पटल पर। वह किसी भी कर्म के प्रकार से या कर्म के फल से नहीं उलझता, किसी भी कर्म का वह कर्त्ता नहीं बनता।

जहाँ भी कोई मानव किसी कर्म का कर्त्ता बनता है, वहीं उसको भर्त्ता भी अवश्य ही बनना पड़ता है। तो ऐसे महामानव को जिसका हृदय और मन सन्यास ले चुका है, उसके द्वारा किया गया प्रत्येक कर्म उसे ऐसे लगता है, मानो ईश्वर शक्ति, ईश्वरीय सामर्थ्य और ईश्वरीय बल, बुद्धि एव विद्या उससे करवा रही हो। प्रत्येक कर्म के करने का और उसके फल का वह समान आनन्द लेता है। कर्म का उसके द्वारा करना अथवा होना ही उसको आनन्द देता है। उसके आनन्द के लिए कर्म के फल की प्राप्ति आवश्यक नहीं होती, यह बहुत विचारणीय विषय है। किसी कर्म का उसे बन्धन नहीं होता। किसी कर्त्तव्य की उसे कोई चिंता नहीं होती। सन्यासी कर्म अथवा कर्त्तव्य से परे होता है। कुछ लोग इसका यह अर्थ निकाल लेते हैं कि सन्यासी को कोई कर्म नहीं करना चाहिए। वास्तविक रूप में सन्यासी कोई कर्म करता नहीं है। उसके द्वारा जो कुछ भी होता है वह मात्र होता है। कोई ईश्वरीय शक्ति स्वयं ही करवाती है। वह स्वयं को किसी भी कर्म का कर्ता नहीं मानता। उसमें कर्त्ता–भाव विलुप्त हो जाता है। ऐसी मानसिक स्थिति वाला महामानव सन्यासी कहलाता है।

संन्यासी कभी अपने नाम अथवा रूप से नहीं बंधता। जैसा कि मैं बार–बार वर्णन कर चुका हूँ कि मानव कोटि में आकर जीव जब अपनी वास्तविक सत्ता से, उस सच्चिदानन्द स्वरूप से परे हो जाता है और जब नाम व रूप में ग्रस लिया जाता है और उस धारणा में परिपक्व हो जाता है कि, "मैं यही हूँ, यही हूँ, यहीं हूँ" तो वास्तव में वह पुण्य और पाप का भागी हो जाता है। इष्ट कृपा और सद्गुरु की कृपा से जब उसको यह रहस्य अनुभूति में आ जाता है, तो वह नाम व रूप के होते हुए भी अपने नाम व रूप में बंधता नहीं है और न ही उसको इसकी कोई आकांक्षा होती है। ऐसा आभास होने लगता है, मानो प्रत्येक कर्म जीवन का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पल और प्रत्येक प्राण उस परमात्मा के ही हैं।

यह स्वयं में कालातीत होता है। काल का बंधन भी संन्यासी को नहीं बाँधता। **ईश्वर को महाकालेश्वर कहा है, जो काल का भी ईश्वर है, जो काल पर राज्य करता है, उसको अनुशासित करता है। तो वह महाकालेश्वर, वह है हमारा सच्चिदानन्द स्वरूप, हमारा ईश्वरीय स्वरूप।** जबकि हम लोग मानव–कोटि में काल से बंधे रहते हैं। तो इस काल का बंधन भी मानव को कभी संन्यासी नहीं होने देता और जो वास्तविक संन्यास हृदय महामानव होते हैं, उनको कभी काल का बंधन नहीं बाँधता। मात्र आनन्द से, आनन्द में और आनन्द के साथ उनका जीवन व्यतीत होता है। वे अपने नाम, यश, काल, देश अथवा स्थान से अति दूर होते हैं। वास्तव में संन्यासी को सम्राट कहा है। पृथ्वी का राजा कहा है नागराज को, क्योंकि वह कभी अपना बिल नहीं बनाता। वह किसी के भी बिल में प्रवेश कर जाता है। कुछ दिन, कुछ महीने, कुछ वर्ष वहीं रहता है और कभी उसका मन करे, तो वह किसी अन्य बिल में जाकर रह जाता है। इसलिए उसको कहा है नागराज, धरती का राजा। सिंह को सिंहराज कहा है, 'वन का राजा' क्योंकि सिंह कभी अपनी गुफा नहीं बनाता। वह किसी के भी निवास में बैठ जाता है। तो शेर को इसके इस गुण के कारण वनराज कहा है। **वास्तव में जिसकी अन्तर्स्थिति सन्यास भाव से ओत–प्रोत हो चुकी है, वह कभी अपने देह के लिए अपने नाम से अपना मकान एवं स्थान नहीं बनाते। वे जहाँ भी बैठ जाते हैं, तो उस समय के लिए वह स्थान उन्हीं का होता है, उन्हीं के लिए होता है भले**

ही उसका स्वामी कोई और हो।

सन्यास हृदय व्यक्ति कभी भी किसी स्थान से भी नहीं बंधता। संसार की समस्त वसुन्धरा, समस्त नक्षत्र, तारागण, वायुमंडल, आकाश–मंडल, पृथ्वी–मंडल, जलमण्डल और समस्त जो कुछ भी भौतिक जगत में इस पाँच महाभूतों से युक्त संसार महानाट्यशाला में दिग्दर्शित होता है, मानो उस सन्यासी के लिए ही होता है, संन्यासी का नहीं होता। वह किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार नहीं जमाता। **'यह मेरी है'** ऐसा भाव कभी भी सन्यासी के हृदय में नहीं उठता, बल्कि **'यह मेरे लिए है'** यह भाव होता है। यदि उसका अपना कुछ होता है, तो वह होता है उसका अपना सच्चिदानन्द स्वरूप, ईश्वर अपना इष्ट। अर्थात् संन्यासी का अन्य लक्षण है कि संसार उसके लिए होता है उसका नहीं होता। यह वस्तुएँ, यह धन, सम्पदा, पद स्थिति 'मेरी है' ऐसा भाव सन्यासी को कभी भी स्वप्न में नहीं आता। बल्कि यह सब कुछ मेरे लिए है, मेरे खेल के लिए है, मेरी लीलाओं के लिए है, मेरा कुछ नहीं है, सन्यास हृदय मानव के मस्तिष्क में, हृदय में यही भाव मूलतः होता है एवं परिपक्व हो जाता है। जहाँ–जहाँ ऐसे विशुद्ध सन्यासी के चरण पड़ते हैं, उसको वहीं सब प्रकार की सुविधाएँ स्वतः ही प्रकृति की ओर से उपलब्ध हो जातीं है। मैंने अपने किसी प्रवचन में स्वामी राम का वर्णन सुनाया होगा, कि जब वे विदेश में बिना किसी वस्तु को साथ लिए अपनी यात्रा के लिए गए, तो एक धारणा थी उनकी, कि जो कुछ भी मुझे चाहिए वे सब कुछ सब जगह मेरे लिए विद्यमान ही होगा। वास्तविकता यही है कि जब मानव–शिशु उत्पन्न होता है, उसके तन पर वरत्र इत्यादि कुछ भी नहीं होता उसकी मानसिक, बौद्धिक शारीरिक शक्तियाँ कुछ भी काम नहीं करतीं। बहुत क्षीण एवं दुर्बल होता है। यदि उसको उस समय समस्त सुविधाएँ मिल सकती हैं, तो अपना होश सभालने के बाद और विभिन्न शक्तियों के विकसित होने के बाद वे सुविधाएँ क्यों नहीं मिल सकतीं? सन्यासी देशातीत होता है, वह कभी स्वयं को मात्र एक देश से ही बाँधकर नहीं रखता। जिस देश पर, जिस स्थान पर वह विराजमान होता है, मानो वह स्थान अथवा देश उसी के लिए होता है। प्रत्येक स्थान की मिट्टी और भूमि उस सन्यासी से अपना सम्बन्ध जोड़कर स्वयं को बहुत सौभाग्यशाली समझती है। उस स्थान पर जाने से लोग अपना सौभाग्य समझते हैं। सन्यासी हृदय

के व्यक्ति जिस स्थान पर रहते हैं, वह स्थान तीर्थ घोषित हो जाते हैं। तो एक अथवा अनेक ऐसे व्यक्तियों का समूह जिस स्थान पर साधना करता है, सत्य की खोज में प्रेरित होता है, तप करता है उस परम सत्य को पाने के लिए, तो वह स्थान तीर्थ बन जाता है। वहाँ की तंरगें और वहाँ का समस्त वातावरण बदल जाता है। ऐसे स्थान पर जाकर साधारण सांसारिक लोग जो मोह और माया के जाल में बहुत जकड़े हुए हैं, कुछ क्षण के लिए शान्ति एवं विरक्ति का अनुभव करते हैं। ऐसे स्थान पूजनीय हो जाते हैं और उनकी पूजनीयता के पीछे उन महापुरुषों का योगदान होता है, जो कि सत्य अन्वेषण के लिए सत्य की खोज के लिए वहीं पर जप–तप करते हुए अपनी देह त्याग देते हैं। **सन्यासी जहाँ–जहाँ पाँव रखते हैं, वहीं तीर्थ स्थान बन जाते हैं। संन्यासी स्थान से नहीं बंधता, बल्कि स्थान संन्यासी से बंधना चाहता है अपने मान–सम्मान के लिए अपने पूजन के लिए अपनी प्रतिष्ठा के लिए।** तो सन्यासी देशातीत होता है।

संन्यासी के लिए जन्म और मृत्यु मानो कुछ महत्व ही नहीं रखते। जीवन की जिस परिस्थिति व आयु में वीतराग भाव और संन्यास मानसिकता बन जाये, वास्तव में ऐसी स्थिति में शरीर छूटना ही **सकाल मृत्यु** कहलाती है। भले ही वह युवावस्था में ही हो जाये। और जब कोई व्यक्ति भौतिक रूप से अतिवृद्ध होकर व अत्याधिक आयु में भी संसार में लिपटा रहे और उसकी मृत्यु हो जाए, तो वह भी **अकाल मृत्यु** है। यहाँ इस बात का ग्रहण अथवा मनन अति आवश्यक हैं।

अकाल मृत्यु–जब युवावस्था में किसी का शरीर छूट जाता है, मृत्यु हो जाती है तो अक्सर उसको लोग अकाल मृत्यु कह कर घोषित करते हैं, परन्तु वास्तविकता में जब अपनी भौतिक आकांक्षाओं एव महत्वाकांक्षाओं से परे हटकर वे अपने आप में पूर्ण सन्तुष्ट होकर भले ही कम आयु में अपना शरीर छोड़ दें, तो वह सकाल मृत्यु होती है और वे सद्गति को प्राप्त करते हैं, क्योंकि संसार में न उनका कोई बंधन होता है और न कोई मोह। संन्यासी जन्म–मृत्यु, जीवन अथवा काल के अतीत होता है। माया की तीनों शक्तियाँ सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण उसको प्रभावित नहीं करते। तीनों उसके लिए सहायक होते हैं। देव इच्छा से जो भी उसके जीवन में घटता है, भले ही वह सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी शक्ति के प्रभाव से घटे, वह उसको

सुन्दर ही लगता है। वह उसकी आनन्दमय ही समझता है। **सन्यासी के हृदय में दुर्भाग्य नाम की कोई चीज़ नहीं होती। उसके लिए तो जीवन की प्रत्येक घटना एक लीला होती है, एक सौभाग्य होता है** और ईश्वर की एक कृति होती है। प्रत्येक घटना में वे अपने इष्ट के चमत्कार को और उसकी लीलाओं को दिग्दर्शित करते हुए आनन्दमय स्थिति में, आनन्द में ही उसको निहारता है, देखता है और विचरण करता है। जीवन में खोना–पाना, मिलना–बिछुड़ना, आना–जाना इत्यादि समस्त सदाए उसके लिए महात्म्य खो देती है।

सन्यासी का एक और चिन्ह है कि वह किसी भी चिन्ह को देह पर धारण नहीं करता। किसी भी चिन्ह–चक्र से वह बंधता नहीं है। किसी विशेष तिलक से, विशेष वेश–भूषा से और विशेष कर्म से, विशेष संस्था से और विशेष विचारधाराओं से वह कभी नहीं बंधता। विश्व की समस्त विचारधाराएं उसी के लिए होती है। तो संन्यास और सन्यासी हृदय किसी विशेष वेश–भूषा से सम्बन्ध रखने वाला स्वरूप नहीं है। **संन्यास उसका मानसिक स्वरूप है।** धर्मातीत, कर्मातीत, माया के तीनों गुणों से अतीत, अपने नाम–रूप से अतीत। तो सन्यासी को महापुरुष क्यों कहते है? क्योंकि **वह समष्टि में प्रवाह करते है, व्यष्टि तत्व से परे हो जाते हैं**। उनकी प्रत्येक क्रिया सम्पूर्ण विश्व के लिए होती है, उनके विचार विश्व के लिए होते हैं, सम्पूर्ण मानवता के लिए होते हैं, उनका प्रत्येक कर्म प्रत्येक जीवधारी के लिए होता है। दया से, प्रेम से, ओत–प्रोत होते हैं वे। सब कुछ होते हुए भी किसी से उनका कोई लगाव नहीं होता। यहाँ तक कि सन्यासी अपनी देह–बंधन से भी अतीत होता है। यह बड़ी विचित्र मानसिक स्थिति है। यह देह मेरा कर्म क्षेत्र है, मेरा प्रतिनिधित्व करती है यह देह। मात्र ऐसा भाव उसमें आ जाता है। संन्यासी स्थिर प्रज्ञ होते हैं। जब उसको इस संसार, इस भौतिक जगत का रहस्य समझ में आ जाता है विशेष इष्ट कृपा से तो जीवन के विभिन्न उतार–चढ़ावों पर जिसको हम सुख–दुख कह देते हैं, स्थिरप्रज्ञ संन्यासी अपनी बुद्धि का संतुलन नही खोते, अपने मन का संतुलन नहीं खोते। ***उदित सूर्य जेहि भाँति, अथवत् ताहि भाँति।*** जीवन में खोना–पाना, आबाद–बर्बाद होना, मिलना–बिछुड़ना और जन्म–मृत्यु उनके लिए कोई भी महत्व नहीं रखते। उनका मानस–पटल, उनका हृदय, उसमें कुछ भी

परिवर्तन नहीं आता।

आज यदि हम अति विचारपूर्वक देखें तो हमे आवश्यकता है गृहस्थ में ऐसे सन्यासियों की, जिनका मन, हृदय, बुद्धि सन्यास धारण कर चुकी है। जिनको संसार से विरक्ति है, कोई भौतिक इच्छाएँ नहीं हैं। जिनकी देह और जिनका हृदय मानव एवं मानवता के लिए अति करुणापूर्ण है, सबकी सहायता करना चाहते हैं जो। जिनको विश्व अपनी आत्मा का स्वरूप ही नज़र आता है विभिन्न नामों और रूपों में। तो ऐसे सन्यासी चाहिए जो गृहस्थ में ही हों। कारण, कि आप मेरी एक बात से अवश्य सहमत होंगे, कि जब भी कोई व्यक्ति अपने भरे–पूरे परिवार को छोड़ता है भले ही उसे परिवार में कितना भी कष्ट क्यों न हो तो अपनी स्त्री, बच्चे, अपना घर और अपना थोड़ा–बहुत जो भी कारोबार, अपने सगे–सम्बन्धी अपना गाँव, अपना देश, अपना नगर, ये सब चीजें छोड़ने के लिए बहुत विलक्षण और बहुत कठिन मन बनाना पड़ता है, जो कि बहुत ही कठिन होता है और ऐसा अक्सर तब होता है, जब किसी व्यक्ति को अपने परिवार में और अपनी समस्त भौतिक परिस्थितियों में अति कष्ट का अनुभव होने लगे। नहीं तो परिवार को छोड़ना बहुत कठिन कार्य है। यह मैं सबके लिए नहीं कह रहा हूँ। कुछ बहुत ही दुर्लभ मानव होते हैं करोड़ों में, जो ईश्वर की प्राप्ति के लिए अपनी भौतिक व्यवस्था और अपने परिवार को बाधा समझते हों और उसको त्याग कर मात्र ईश्वर की प्राप्ति के लिए सत्य अन्वेषण एवं सत्य की खोज के लिए अपना परिवार छोड़ते हों। ऐसे लोग बहुत दुर्लभ होते हैं और जब यह अति उत्कृष्ट, अति तीव भाव हृदय में आ जाता है, तो सत्य पूछिए उस समय परिवार का छोड़ना या किसी विशेष स्थान पर जाना, अपने में कोई महात्म नहीं रखता।

जब किसी मानव में यह जानने की इतनी तीव्र वेदना उत्पन्न हो जाती है, कि जीवन का सत्य क्या है? मैं बार–बार क्यों जन्म लेता हूँ? क्यों मरता हूँ और जो मैं प्रत्येक जन्म में कर रहा हूँ, इसका अर्थ क्या है? मैं जा कहाँ रहा हूँ? मुझे कुछ भौतिक वस्तुएँ मिल भी गईं, तो फिर क्या होगा? हर प्राप्ति और हर खोने के पीछे जब एक विशाल प्रश्न सूचक चिन्ह लग जाता है, तो मानव हृदय विदीर्ण हो जाता है कि आखिर मैं जन्म दर जन्म क्यों लेता जा रहा हूँ? इसका अन्त कहाँ है? यह

कहानी समाप्त कब होगी? यह कर्मों का प्रारम्भ कहाँ से है? कर्म क्या है? कर्म करवाता कौंन है? जब करवाने वाला ही कोई और है, तो उसकी सज़ाए मैं क्यों भुगता हूँ? क्यों कर्त्ताभाव मुझमें आता है?

असंख्य प्रश्नों की श्रृंखलाएँ जब मानव बुद्धि को और ह्रदय को झकझोरने लगती हैं, तो कोई न कोई महामानव इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढने के लिए निकल पड़ता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा, कि जब ये प्रश्न व्यक्ति के ह्रदय में एक उन्माद पैदा करते हैं और जीवन का लक्ष्य जब उनका उत्तर पाना ही रह जाता है। **विचार से, सत्संग से, अनुभव से, तो उस परम जिज्ञासु को कोई न कोई सदगुरू स्वयं आकर मिल जाता है। यह जीवन में एक परिपूरक विधाओं का विधान है। जब हम परम उच्चकोटि के शिष्य भाव से परिपूरित हो जाते हैं जब हम जिज्ञासु और वास्तविक जिज्ञासु बन जाते हैं, तो हमारे सन्मुख कोई न कोई सदगुरू समय पर परिपक्वता होने पर अवश्य प्रकट हो जाता है भले ही हम कहीं जाएं अथवा न जाएं। सत्य यही है।**

भला सोचिए यदि किसी ने पारिवारिक दैहिक, आर्थिक और सामाजिक कष्टों की वजह से यदि परिवार और अपना स्थान छोड़ा हो और उससे भागने के पश्चात् कहीं भी जाकर यदि उस व्यक्ति को कुछ प्राप्तियाँ हो भी जाती हैं, तो क्या ऐसा व्यक्ति किसी गृहस्थी को, उसके हित में उपदेश देने के लिए योग्य हो सकता है? कदापि नहीं। जिसमें स्वयं अधूरापन हो, जो असफल रहा हो अपने परिवार को चलाने में, उसके दुखों को जो स्वयं न सहन कर सका हो और उसकी वजह से, उसको गृह त्याग करना पड़ा हो, वह भले ही कुछ भी बन जाये, वह किसी पारिवारिक व्यक्ति को, किसी गहस्थ को सदमार्ग नहीं दिखा सकता, चूंकि वह स्वयं असफल हो चुका है। कहने का अर्थ यह है कि **गृहस्थ आश्रम स्वयं में एक तप है। जो लोग गृहस्थ को भोग का आश्रम समझते हैं, वे बहुत भारी भूल कर रहें है, ऐसा नहीं है।** जैसा कि मैं उत्तम गृहस्थ के एक अध्याय में वर्णन भी कर चुका हूँ, कि हमें उत्तम प्रकार का गृहस्थ निभाना चाहिए। गृहस्थ के सुखों–दुखों को भोगते हुए और उन कष्टों को अपना तप मानते हुए हम गृहस्थ को सुचारु रूप से चलाएं। अपनी स्त्री, अपने बच्चों, अपने आस–पड़ोस, अपने सगे–सम्बन्धियों के

साथ एक हार्दिक प्रेम रखते हुए, सहानुभूति रखते हुए, उनकी उन्नति के लिए प्रार्थना करते हुए अपनी दिनचर्या को इस प्रकार बनाएं कि हम अपना अधिक समय धन उपार्जन और भौतिक सुख–सुविधाओं की वस्तुओं में न लगाकर मात्र उतना ही अपने लिए इकट्ठा करें, जितनी कि हमको आवश्यकता है। यदि प्रभु ने हमको किसी भी पदार्थ की, धन–सम्पदा आदि की, प्राप्ति की अधिक क्षमता दी है, जो हमारी आवश्यकता से अधिक हो, तो वे वस्तुएँ, वह धन, वह सम्पत्ति और वह सुख–सुविधाएँ, वे सेवाएं हमको समाज के ज़रूरतमंद लोंगों के लिए वितरित कर देनी चाहिए, बाँट देनी चाहिए। यह वृत्ति गृहस्थ में सन्यासी की होती है। देखने में और हृदय से वे परम ऐश्वर्यवान होते हैं, लेकिन उनको संसार की किसी वस्तु का प्रलोभन नहीं रहता।

उनका हृदय, उनका मानस सर्वसम्पन होता है और वे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही तरह संतुष्ट व सम्पन्न देखना चाहते हैं। ऐसे महामानव वास्तव में गृहस्थ में ही संन्यासी होते हैं। ऐसे लोगों को जंगलों में और निर्जन स्थान पर जाने की कोई आवश्यकता नहीं होती। ईश्वर कृपा से समय–समय पर स्वयं ही ''सद्‌गुरु' उनको विभिन्न नामों और रूपों में मिल जाता है। वे जहाँ भी हों, वे हर वस्तु से, हर जीव–जन्तु से कुछ न कुछ ज्ञान अर्जित करते हैं। ऐसा उनका स्वभाव बन जाता है। जिस व्यक्ति ने गृहस्थ के समस्त सुख–दुःख झेले हों और वास्तव मे विलक्षण एवं उत्कृष्ट और आदर्श गृहस्थ जीवन बिताया हो, वही किसी गृहस्थ की पीड़ा को समझ सकता है। बड़े–बड़े उपदेश देना और श्लोक सुनाकर हम किसी गृहस्थ को संतुष्ट नहीं कर सकते। हमारे जीवन के लिए विशेष कर गृहस्थ जीवन के लिए एक व्यवहारिक दृष्टिकोण का होना अति आवश्यक है। बातों से या किताबी सुझावों से या पुराणों में क्या लिखा है, उसको सुनाकर हम किसी गृहस्थ के मानस को परिवर्तित नहीं कर सकते। प्रत्येक गृहस्थ की अपनी–अपनी कुछ कठिनाईयाँ हैं। कोई अपनी देह से परिवार से, कोई कारोबार से, अपने आस–पड़ोस से, राजनीति से, समाज से और न जाने कितनी–कितनी व्याधियों से पीड़ित होते हैं परन्तु उन सबको आनन्दपूर्वक झेलना और उन कठिन परिस्थितियों में भी अपने हृदय के आनन्द से ओत–प्रोत रहना एक बहुत बड़ा तप है।

मैं समझता हूँ कि प्रत्येक गृहस्थी जो सद्गृहस्थ बिताना चाहता हो, वह अपने में एक तपस्वी होता ही है। तो गृहस्थ में कुछ महामानव होते हैं, जिनको जीवन से कुछ शिकायत नहीं है, जिनको **प्रभु कृपा से जीवन में सब कुछ मिला है और जिनकी सबसे बड़ी प्राप्ति है संतुष्टि, क्योंकि संतुष्टि एक ऐसी निधि है जो ईश्वर कृपा के बिना नहीं मिल सकती। ईश्वर कृपा के बिना धन, सम्पदा, सम्पत्ति और नाम–यश इत्यादि सब कुछ मिल सकता है, लेकिन संतोष के लिए ईश्वर कृपा का होना अति आवश्यक है।** जिसको संतुष्टि निधि मिल जाती है, वह हृदय से बहुत धनवान हो जाता है, परिपूरित हो जाता है। वास्तव में ऐसे व्यक्ति ही गृहस्थ में रहते हुए जब अपनी साधना करते हैं और सुखों–दुःखों को आनन्दपूर्वक झेलते हैं और झेलने की क्षमता रखते हैं, वास्तव में वही लोग **"गृहस्थ संन्यासी"** हैं। ऐसे मानवों को कोई चिन्ह–चक्र, वेशभूषा इत्यादि धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे व्यक्ति महामानव कहलाते हैं। सारी वसुन्धरा ही उनका परिवार हो जाता है। उनमें मुदिता, प्रसन्नता, हर्ष और उल्लास, साहस और उत्साह, ईश्वरीय प्रेम और ईश्वरीय आनन्द स्वतः ही आ जाते हैं। उनके नेत्रों से, उनके मुखारविन्द से, उनकी देह की तरंगों से एक विशेष लगाव एवं आकर्षण और प्रेम का भाव झलकने लगता है। तो ऐसे व्यक्ति गृहस्थ में भी रहते हुए महाराज जनक की तरह संन्यासी होते है। ऐसे महामानवों का एक–एक प्राण, समय का एक–एक क्षण मात्र परोपकार के लिए ही बीतता है। **युग–युगान्तरों तक ऐसे महामानव समय रूपी रेत पर अपने पद चिन्ह छोड़ जाते हैं और पीछे आने वाले व्यक्तियों को सद्मार्ग दिखाने के लिए ही ऐसे व्यक्ति धरा पर अवतरित होते हैं। धरा और आकाश ऐसे महामानवों को पाकर प्रफुल्लित हो जाते हैं।**

तो गृहस्थ जीवन बिताते हुए संन्यास वृत्ति बनना जैसा कि मैं कह चुका हूँ, कि इसके लिए कोई निश्चित् समय नहीं है। संन्यास किसी के ऊपर लादा नहीं जा सकता। बार–बार मैं इस कथन पर जोर डाल रहा हूँ, कि किसी के मात्र वेशभूषा और वस्त्र बदलने से या किसी विशेष दिन–तिथि को परिवार छोड़ने से संन्यास के ऊपरी आडम्बर तो रचे जा सकते हैं, परन्तु जब तक मानव का मन संन्यासी नहीं हो

जाता, तब तक वह आडम्बर न केवल निरर्थक होते हैं, बल्कि उस मानव के लिए घातक भी होते हैं। न केवल उस मानव के लिए ही बल्कि उन लोगों के लिए भी जो ऐसे तथाकथित संयासी का अनुसरण करते हैं। संयास पूर्णतया एक मानसिक स्थिति है।

आज देश में सन्यासियों की एक बाढ़ आ चुकी है। कोई भी परिवार में थोड़ा कष्ट होने से परिवार छोड़कर भाग जाते हैं। यहां तक कि सन्यासी वेशभूषा धारण करने के बाद वे गुप्त रूप से लुके–छुपे अपने परिवार भी बना लेते हैं। ऐसे तथाकथित सन्यासी अपनी आत्मा से गिर जाते हैं। अपनी ही दृष्टि में वे गलित हो जाते हैं। उस ग्लानि को ढकने के लिए न जाने कितने आडम्बर करते हैं। जब कोई सन्यासी अथवा साधु बहुत आडम्बर युक्त होते हैं, तो समझ लीजिए वे कुछ छिपाना चाहते हैं। जो वास्तविक वीतराग महात्मा होते हैं, जिनका हृदय व मानस सन्यासी बन चुका है, ऐसे व्यक्तियों को आडम्बर रचने की आवश्यकता नहीं होती।

सिंहों के नहीं लेलड़े, हंसों की नहीं पांत
लालों की नहीं बोरियां, साधु न चले जमात।

वास्तव में जो सन्यासी हैं, वे कभी झुंडों में नहीं चलते। ऐसा कोई–कोई विरला संत उसी को मिलता है, जो हृदय से परम जिज्ञासु हो। वे ही परम जिज्ञासु ऐसे महामानवों को पहचान लेते हैं। वरना तो साधारण व्यक्ति ऐसे महापुरुष को पहचान नहीं पाते। जब तक हम अपने छोटे से लघु से मानव हृदय एवं मस्तिष्क से बाहर नहीं आ जाते ऊपर नहीं उठ जाते तब तक हमें वह दृष्टि नहीं मिलती, जिस दृष्टि को पाकर हम सत्य और असत्य की पहचान कर सकते हैं। ऐसे महापुरुषों को अपनी पहचान कराने की आवश्यकता भी नहीं होती और न ही इच्छा होती है। ऐसे **महामानवों को पहचाना पड़ता है और उस पहचान के लिए विशेष दिव्य दृष्टि ईश्वरीय सोच का होना अति आवश्यक है।**

हम जीवन के समय को क्षणों को व्यर्थ कार्यों में बिता देते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि हम उन व्यर्थ कार्यों को व्यर्थ नहीं मानते। इसे **बाध्य ज्ञान** कहा है। ऐसे लोग अधिक दण्ड के अधिकारी हो जाते हैं। हम इस पृथ्वी पर लाए क्यों गए हैं और जो कुछ भी हम यहां कहते हैं जब वे हमारे बिना भी हो सकता है तो हम उन्हीं विशिष्ट कर्मों को क्यों करते हैं। जब हमको मृत्यु के समय समस्त भौतिक पदार्थों को और

प्राप्तियों को यहीं त्यागना पड़ेगा, तो हम संग्रह वृत्ति के लिए अपना समय क्यों व्यर्थ करते हैं। इस प्रश्न का उतर हमें अपने इष्ट से अर्थात् सद्गुरु से ही मिल सकता है और यदि हम उन उतरों को जानने को प्रयत्न नहीं करते और जीवन जिस धारा में बह रहा है हम उसी को सत्य मानकर न केवल मानकर बल्कि लोगों से मनवा कर ही चलते हैं। तो हम उस महाकालेश्वर के द्वारा दी गई सज़ाओं के भागी बन जाते हैं।

आज सारा संसार त्राहि–त्राहि कर रहा है। किसी को मानसिक संतोष नहीं है। पूरी दुनिया बहुत तेजी से दौड़ रही है। कोई धन के लिए, कोई स्त्री के लिए, कोई संतान के लिए, कोई विशिष्ट व्यवसाय के लिए, कोई नाम के लिए, कोई यश के लिए, लेकिन व्यक्ति उस अकारण दौड़ का न तो अर्थ समझता है न ही समझना चाहता है, कि मैं भाग कहां रहा हूं और यदि मुझे अमुक–अमुक पदार्थ शिक्षा, धन, सम्पदा और अन्य विभिन्न प्रकार की वस्तुएं प्राप्त हो भी गईं तो फिर क्या हो जाएगा? जब किसी सन्यास हृदय व्यक्ति के हृदय में यह भाव जमा लेता है, तो उस समय क्या होगा स्वतः ही उसकी बुद्धि उसका मन, उसका हृदय और उसकी समस्त भौतिक, अध्यात्मिक व शारीरिक शक्तियां मात्र एक ही दिशा में लग जाती हैं, कि **सत्य क्या है?** ऐसे व्यक्ति संसारिक कार्यों को करते रहते हैं। बल्कि यूं कहिए कि वे कार्य उनके द्वारा होते रहते हैं और उन कार्यों के फल के साथ उनका कोई लगाव नहीं होता। गृहस्थ में जीवन बिताते हुए ऐसे महामानव किसी विशेष कष्ट में आपति में और किसी विशेष हानि में उद्वेलित नहीं होते और घबराते नहीं। किसी शुभ लाभ में और कुछ विशेष भौतिक प्राप्तियों को पाने के बाद ऐसे लोग विशेष हर्षित नहीं होते। उनका भाव कष्टों में, दुखों में, आबादी में, बर्बादी में, सुखों में एक समान रहता है। वास्तव में ऐसे लोग गृहस्थ में ही संयासी हैं।

तो यदि संसार का कोई परोपकार करना चाहता है, अपने भावों से एवं अनुभवों से तो कुछ ऐसे संन्यासी चाहिए, जो परम गृहस्थी ही। जिन्होंने अति आनन्द में उत्कृष्ट गृहस्थ को जिया हो। जिनको किसी से कोई आकांक्षा न हो, न अपने नाम, न यश, न रूप, न धन, न स्त्री, न संतान इत्यादि की। जिसको कोई मोह न हो, वही वास्तव में गृहस्थ में संन्यासी है, वही पूजनीय है। तो आज हमको खुले दिल–दिमाग से इस बात का निर्णय करना होगा, कि क्या संन्यास लेने के लिए कोई भगवा या

अन्य प्रकार की निश्चित वेशभूषा पहननी आवश्यक है? क्या विशेष चक्र–चिन्ह धारण करना आवश्यक है? वे तो मात्र शरीर के संन्यास के द्योतक हैं। **क्या हम किसी उच्चाधिकारी की वर्दी पहन कर उच्चाधिकारी हो जाते हैं? तो इसलिए जहाँ तक मेरा विचार है, कि जब तक हमारा हृदय और मानस भीतर से संन्यासी नहीं हो जाता, तब तक बाह्य आडम्बरों का कोई अर्थ नहीं है।**

इस प्रकार संन्यास एक बहुत उच्चकोटि की एक मानसिक अवस्था है, जो कि परम ईश्वरीय कृपा से ही प्राप्त होती है और ऐसे गृहस्थ संन्यासियों के लिए तो अपना परिवार ही बहुत बड़ा तप का स्थान है। **जब पारिवारिक परिस्थितियाँ किसी की अनुकूल नहीं होती, प्रतिकूल होती है, संतान द्वारा, पति अथवा पत्नी द्वारा, अपने व्यवसाय द्वारा, अपने पड़ोस द्वारा, अपने देश एवं देश की राजनीति द्वारा कोई व्यक्ति प्रताड़ित हो जाता है, कष्टमय हो जाता है, यदि उस समय को वह आनन्दमय बिताता है, तो ऐसे महामानव गृहस्थ में ही तपी होते है।** वे बहुत क्षमावान होते हैं और उनका स्वभाव अबोध बालक की तरह होता है। वे सदा मुदिता में, प्रसन्नता में और संतुष्टि में अपना जीवन बिताते हैं। उनके मुख पर संतोष एव शान्ति की एक निरंतर झलक का कोई भी आभास कर सकता है, जान सकता है। ऐसे महामानव किसी को भी अपना शिष्य अथवा गुरु बनाने में बंधन महसूस करते है। इनके बंधन नाम मात्र के होते हैं। तो यदि कोई ऐसा महामानव किसी स्थान पर मिल जाये, तो इससे बड़ा कोई और सौभाग्य नही हो सकता।

।। जय जय श्री राम।।

अन्तिम लक्ष्य

आज की संध्या वेला में अपने इष्ट प्रभु श्री हनुमान जी की दिव्य प्रेरणा, कृपा एवं आदेशानुसार आपके सम्मुख एक अति भावपूर्ण विषय प्रस्तुत करने जा रहा हूँ कि **प्रभु मिलन, मिलन है या प्रभु बिछुड़न, मिलन।** दोनों में से कौन मिलन उत्कृष्ट है, स्थायी है, हृदयग्राही है? उपासक जन्म–जन्मान्तरों से अपने इष्ट का ध्यान, चिंतन, मनन, साधना, नित्याध्यासन व विचार करता रहता है। उसका समस्त संसार जो कुछ भी होता है, वह उसका इष्ट ही होता है, इष्ट के अलावा कुछ भी नहीं होता। उसकी समस्त दैहिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, आत्मिक जितनी भी प्रक्रियाएं है, उन सबका केन्द्र मात्र एक उसका इष्ट ही होता है। उसके समस्त सम्बन्ध उसके इष्ट के कारण ही होते हैं। जिस प्रकार कि कोई नवविवाहिता लड़की अपने ससुराल जाती है, वहाँ उसका अपना एक पति होता है और कोई देवर, कोई जेष्ठ, कोई सास, कोई ननद इत्यादि जितने भी अन्य सम्बन्ध होते हैं, उन सम्बन्धों का केन्द्र एव आधार मात्र उसका पति होता है।

यह बहुत विचारणीय विषय है, वही सम्बन्ध जो उसके इष्ट के कारण होते हैं या जिन सम्बन्धों का कारण उसका इष्ट होता है। उपासक के मात्र वही सम्बन्ध होते हैं। **भौतिक सम्बन्धों में माता–पिता, भाई–बहिन, पति–पत्नी कुछ भी ही, जिनका कारण उसका इष्ट न हो, तो वह उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता, वे मात्र सम्बन्ध से होते हैं।** एक ही छत के नीचे रहते या एक ही परिवार में रहते सारा जीवन बीत जाता है परन्तु उपासकों का हृदय किसी विशेष सम्बन्ध से मिले न मिले, यह आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर जिससे न कोई रक्त का सम्बन्ध है, न कोई देश का, न धर्म का, परन्तु यदि वह उसके इष्ट के कारण हैं, तो वही उसका सम्बन्धी होता है अर्थात् उपासक किसी और सम्बन्ध को तूल ही नहीं देता, भले ही वे उसके कितने लाभ का कारण ही क्यों न हो? विचित्र सम्बन्ध होता है उपासकों का। जन्म–जन्मान्तरों में उनका यही रवैया होता है। वे अक्सर संसार में चर्चा का विषय बने रहते हैं, विशेष करके अपने भौतिक सम्बन्धों में। उनका विचरण व उनका मिलन, केवल अपने आध्यात्मिक सम्बन्धों में होता है। वे औपचारिकताओं से बहुत परे होते हैं, उनकी देह बड़ी विस्तृत होती है, बृहद् होती है। जहाँ तक इष्ट

के सान्निध्य का प्रश्न है, इसमें भी उपासकों की अपनी प्रतिष्ठा होती है। यद्यपि एक इष्ट में उनकी धारणा अति दृढ होती है, अति परिपक्व होती है।

यहाँ पर दृढ़ता और परिपक्वता दो अलग–अलग वस्तुएँ हैं। इन दोनों का जब समन्वय हो जाता है, तो उपासक का इष्ट के प्रति दृष्टिकोण पूर्ण रूपेण परिवर्तित हो जाता है। उस दृष्टिकोण में पदार्पित होने के बाद उसके स्वयं के जीवन की धारणाएँ भी अपेक्षाकृत बदल जाती हैं। उदाहरण के लिए जब एक इष्ट में कुछ जन्मों की उपासना के बाद उसकी दृढता एवं परिपक्वता हो जाती है, तो जैसा कि मैं अपने पहले प्रवचनों में कई बार वर्णित कर चुका हूँ, तो वे उपासक अपने इष्ट को एक नाम असंख्य रूपों में, एक रूप असंख्य नामों में और असंख्य रूप असंख्य नामों मे दिग्दर्शित करने लगता है। जहाँ–जहाँ इस सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में ईश्वर की कहीं मान्यता है, साकार में, निराकार में, रूप में, अरूप में और किसी भी विग्रह में, किसी भी प्रतिष्ठा में, किसी भी वस्तु में, उसी–उसी दृष्टिकोण में किसी भी दृढ़ एवं परिपक्व उपासक को मात्र अपना इष्ट ही नज़र आता है।

वह उस स्वरूप में अपने इष्ट का स्वरूप ही बदला हुआ देखता है और वहीं नतमस्तक हो जाता है, वहीं समाधिस्थ हो जाता है, ध्यानस्थ हो जाता है और देखने वालों के लिए वह एक अचम्भा बन जाता है। कभी–कभी चर्चा का विषय भी। जब ऐसी स्थिति उपासक की आ जाती है, तो उसके जीवन का, स्वयं उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का और व्यक्तित्वों का धारा प्रवाह सम्पूर्ण जीवन बदल जाता है। वे स्वयं को भी एक नाम असंख्य रूपों में, एक रूप असंख्य नामों में और असंख्य नाम असंख्य रूपों में देखने लगता है। यह उपासना की दृढता एवं परिपक्वता की पहचान है।

जहाँ तक इष्ट से सान्निध्यता का प्रश्न है, उसके बारे में भी कुछ उल्लेख करना चाहूँगा। उसकी इष्ट से दूरी, इष्ट से समीपता, इष्ट से मिलन, इष्ट से बिछुड़न, इष्ट को याद करके रोना, इष्ट को मिलकर रोना, हर्ष के आंसू, विरह के आँसू, इष्ट के इश्क में आबादी अथवा बर्बादी, मिलन अथवा बिछुड़न, खोना अथवा पाना ये समस्त संज्ञाएं अपना अस्तित्व खो देती हैं। इनमें कोई भेद नहीं लगता। जब उपासक दृढ़ एवं परिपक्व हो जाता है।

मुझे ग़म भी उनका अज़ीज़ है, कि उन्हीं की दी हुई चीज़ है मुझे तुम से कुछ भी न चाहिए, मुझे मेरे हाल पे छोड़ दो।

कि, मेरे आका ! मेरे खुदा ! कुछ ऐसी चीज़ मुझे दे दो जिसका ताल्लुक, जिसका सम्बन्ध तुझ से और केवल तुझ से ही हो, भले ही वह ग़म हो या खुशी हो। ऐसी कोई वस्तु दे दो, जो निरन्तर मेरे हृदय मे, पीड़ा अथवा मन में प्रसन्नता उत्पन्न करती रहे और उस पीड़ा अथवा प्रसन्नता के पीछे मैं तुझको ही देखूं, तुझे ही महसूस करूँ। तो उपासना की पराकाष्ठा में इष्ट का दीदार, उसका मिलन व उसकी झलक तो विशेष महत्व रखती ही है। उसकी याद भी उसका साक्षात्कार ही होती है। किसी शायर ने कितना सुन्दर लिखा है, जिसको अपने इष्ट की मात्र एक झलक मिली होगी–

क्या–क्या बताऊँ मैं, तेरे मिलने से क्या–क्या मिला, मुद्दत मिली, मुराद मिली, मुद्दा मिला, सब कुछ मुझे मिला, जो तेरा नक्शे पां मिला!

"मेरे खुदा! तुझे मिलने के बाद मुझे क्या मिला यह अवर्णनीय है। उस अगाध आनन्द का वर्णन मेरी बुद्धि से मेरी वाणी से परे है।" कभी–कभी उपासक कई–कई जन्म अपने इष्ट के दीदार की प्रतीक्षा करते–करते जब निराश हो जाते हैं, तो उनको मात्र एक ही आनन्द रह जाता है और वह है–इन्तज़ार का आनन्द–

माना तुम्हारी दीद के काबिल नहीं हूँ मैं,
तू मेरा शौक देख, मेरा इन्तज़ार देख।

"जन्म–जन्मांतरों से माधो ! मैं तुम्हारी दीद के लिए लालायित भटकता रहा हूँ। कहाँ–कहाँ भटका हूँ, लेकिन मुझे तुम्हारी दीद नहीं हुई। अब मैं उम्मीद छोड़ चुका हूँ। अब मुझे तुम्हारा इन्तज़ार ही तुम्हारी दीद का आनन्द देता है। उपासक, प्रेमी, प्रभु के आशिक, बहुत सहनशील होते हैं, बहुत विनम्र होते हैं, कोई भी सम्बन्ध रख लेते है उससे। स्वयं को विशुद्ध करने की भी इनकी कोई इच्छा नहीं होती। **प्रभु का प्रेम, प्रभु का मोह एक ऐसी चीज़ है, जिसमें सच पूछिए, तो मानव स्वयं के अवगुणों को भी भूल जाता है। यह इश्क या मोह ऐसी वस्तु है, कि जिससे हो जाए उसके और अपने गुणों और अवगुणों का ध्यान नहीं रहता।** " हे प्रभु! मुझे सदगुण दीजिए, हे प्रभु! मुझे विशुद्ध कर दीजिए, मेरे हृदय को

निर्मल बना दीजिए, मुझे छल–कपट से रहित कर दीजिए, मेरे विकारों को शान्त कर दीजिए, समाप्त कर दीजिए।" ऐसा कोई भाव भी आशिक के मन में नही रहता।" मैं कैसा हूँ? वैसा ही हूँ, जैसा तुमने मुझे बनाया है। जैसा भी हूँ, मैं तुमसे मिलना चाहता हूँ" और भी एक बड़ी अटपटी प्रार्थना है कि, "हे प्रभु। क्योंकि मैं पाखंडी हूँ, मैं सारे विकारों से विकृत हूँ, प्रदूषित हूँ मैं, तुम मुझे मत मिलना, हो सकता है मुझे मिलने के बाद, मुझे छूने के बाद तुम कहीं प्रदूषित न हो जाओ। तुम्हारी याद, तुम्हारा सिमरन, तुम्हारा चिंतन, तुम्हारा भजन, तुम्हारा ख्याल मुझे बना रहे, क्या यह कम है! " यह भी आशिकों का बडा विचित्र पहुँच का मार्ग है।

यदि इस सम्पूर्ण विषय को मिलाया जाये तो अर्थ यह निकलता है कि प्रेम एक ऐसी शक्ति है, एक ऐसी पहुँच है, जिसमें ज्ञान, विज्ञान, अज्ञान, मिलन, बिछुड़न, खोना–पाना, आबादी–बर्बादी इत्यादि यह समस्त संज्ञाए महत्व नहीं रखतीं। बस कुछ ऐसी विधा या विधान चाहिए, जो उपासक के हृदय को उसके इष्ट की, उसके प्रभु की याद दिलाती रहे। बस, उसे तो उतना ही काफी है और नेत्रों से अविरल अश्रु–धाराएं चलती रहे। उपासक कर्म–काण्ड से बहुत परे होते हैं। वे किसी भी विधि–विधान को नहीं मानते। बस, किसी भी प्रकार से उनका हृदय जब इष्ट में खो जाता है, इष्ट के ख्यालों में, विचारों में खो जाता है, उनके लिए वही कर्म–काण्ड हैं। उनके लिए कोई विशेष आसन, कोई मुद्रा या कोई समय, कोई महत्व नहीं रखता। जहाँ भी जैसे भी बैठे हुए, लेटे हुए किसी भी प्रकार से जब उनको उनके इष्ट का ख्याल आता है, उसमे वे खो जाते हैं। उनके लिए सब समय ही ब्रह्ममुहूर्त होते हैं। उनके हृदय की ज्योति व उनके पाँचों प्राणों की ज्योतियाँ जलती रहती हैं। एक अविरल व निरंतर उनकी चिता जलती रहती है। और उसके बाद देह भस्मित, विचार भस्मित, इच्छाएं भस्मित, भूत, वर्तमान, भविष्य, सब कुछ भस्मित हो जाता है और भस्मी का भी कहीं नामों–निशान नहीं रहता। चूंकि वे उनके इष्ट के चरणों में समर्पित हो जाती है। यही उनके जीवन की और यही उनकी मृत्यु की संतुष्टि होती है।

सांसारिक लोगों को भौतिक मिलन सुख देता है और भौतिक बिछुड़न दु:ख। जबकि उस सच्चिदानन्द का बिछुड़न भी आनन्द, उसका मिलन भी आनन्द! कितना विशाल अन्तर है भौतिक और आध्यात्मिक

जगत में! जहाँ तक आध्यात्मिक सम्बन्धों का महात्म्य है, जिसका मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ। भौतिक जगत में विशिष्ट भौतिक सम्बन्ध विशिष्ट नाम और रूपों पर आधारित होते हैं और नाम और रूपों पर विशिष्ट सम्बन्धों की औपचारिकताएँ होती हैं, जबकि **आध्यात्मिक जगत में सम्बन्ध, मात्र सम्बन्ध होते हैं। उनको कोई भी नाम–रूप दिया जा सकता है। वहाँ मात्र सम्बन्ध का महत्व है सम्बन्ध के नाम–रूप का नहीं।** इसलिए शायद आध्यात्मिक सम्बन्धों में औपचारिकताएं नहीं होती।

मानव देह जब अपने स्वयं के नाम–रूप से परे हो जाती है या तो वह प्रगाढ़ निद्रा होती है या वह मृत्यु अथवा मूर्च्छित अवस्था होती है। इन तीनों अवस्थाओं में और कभी–कभी तुरीया अवस्था में या गहन समाधि अवस्था में भी मानव अपने नाम व रूप से परे हो जाता है। ऐसी स्थिति में मानव अपने नाम व रूप से परे जो विशुद्धतम स्वरूप है, अपना वह निराकार स्वरूप, उसके अविरल आनन्द को महसूस करता है। **यह नाम एवं रूप की जितनी भी परिकल्पना है, यह सब मायिक है, क्षणिक है। वह स्थिति, जब वह अपने नाम व रूप से परे होता है, तो साथ ही माया के तीनों गुणों से परे हो जाता है।** यह बहुत विचारणीय विषय है और ऐसी अवस्था जब यह स्वयं अपनी निराकार अवस्था में होता है, तो इसका इष्ट भी इसके सम्मुख निराकार ही होता है। यह स्वयं इष्टमय हो जाता है। इस स्थिति को योगियों ने "**कैवल्य समाधि**" कहा है। यद्यपि यह अपने में एक परमानन्द की स्थिति है लेकिन साकार उपासक अन्य चार प्रकार के मोक्षों को ही सदा मानते हैं, ग्रहण करते हैं, पाते हैं और पाना चाहते हैं। वे आपने इष्ट के नाम से ही जाने जाते हैं। इष्ट के स्वरूप से ही जाने जाते हैं और उसके आनन्द का रसास्वादन करते हैं–

वो मुझ से पूछते हैं कि यह क्या बात है शकील,
दुनियां पुकारती है मुझे तेरे नाम से।

जब कोई उनको देखता है, तो उसको उनके इष्ट की झलक नज़र आने लगती है, उनके चेहरे पर, उनके मुखारविन्द पर, उनके हाव–भावों में, उनकी बातों में, उनके आचरण में। बहुत प्रकरण हैं उस भक्ति योग के, प्रेम योग के, मोह योग

के। यहीं पर यह भी मैं अवश्य उल्लेख करना चाहूँगा, कि जहाँ योग होता है, वहाँ वियोग भी होता है। जिस प्रकार कि मिलन के साथ बिछुड़न और दुखों के साथ सुख, प्रकाश के साथ अन्धकार जुड़ा रहता है। इसी प्रकार योग की एक विधा है वियोग। **आध्यात्मिक जगत में, ईश्वरीय मार्ग में योग और वियोग दोनों में कोई अन्तर नहीं होता। ईश्वर मिलन की प्रसन्नता और ईश्वर से वियोग की उदासी दोनों बहुत आनन्दमय होती है।** किसी भी प्रकार से, किसी भी तरह से उसकी समीपता अथवा उसकी दूरी का आभास हमेशा उपासक को आनन्दित रखता है। जिस आनन्द का रसास्वादन उपासक की अन्तरात्मा ही कर सकती है।

तू मेरा साहब रहमाना, मैं तेरा दीदार दीवाना।

तू मुझे खुशी दे या ग़म दे, यह तेरा अख्यिार है।

हम बेनयाज़ हो गए झोली पसार के।

कुछ भी डाल दो मेरी झोली में, कुछ भी दे दो मुझे, खुशी दे दो या गम दे दो, कुछ ऐसी चीज़ दे दो, जो तुम्हारी हो और वह मेरे पास रहे। बस एक ही इच्छा होती है उपासक की –

पड़ा रहने दो अपने दर पर मुझको क्यों उठाते हो,

मेरी किस्मत संवरती है, तुम्हारा क्या बिगड़ता है

मेरे आका! जन्म–जन्मांतरों से भटकता हुआ थक कर मैं तेरे दर पर आकर ढह चुका हूँ, गिर गया हूँ मैं मुझे यहाँ से मत उठाइए, मुझे तुम से कुछ नहीं चाहिए, मुझे यहाँ पड़ा रहने दीजिए–

मेरे टूटे हुए पाए तलब का मुझ पर एहसान है,

कि तेरे दर से उठ कर अब कहीं जाया नहीं जाता।

इस प्रकार हर वो परिस्थिति जो उपासक को अपने इष्ट के 'दर' पर ले जाती है उसे अपने ऊपर एहसान ही लगती है। कई प्रकार के शिकवे, शिकायतें होती है उनको अपने इष्ट से। भला विचारिए, कौन से ऐसे कर्तव्य हैं, कौन से ऐसे कर्म हैं, जो किसी के बिना नहीं हो सकते' **यदि कोई अन्तिम लक्ष्य है, तो मात्र यह कि अपने स्वरूप का दिग्दर्शन, अपने इष्ट की सान्निध्यता, समीपता।** किसी भी प्रकार से उससे जुड़ना। यदि बिछुड़न हो तो इष्ट से, यदि मिलन हो तो इष्ट से।

यदि आबादी हो तो इष्ट के कारण और यदि बर्बादी हो तो इष्ट के कारण। क्या चाहते हैं हम यहाँ पर 'कहीं भाग रहे हैं हम? क्या मिल जाएगा हमको' कब तक मिलेगा? मिल भी जाएगा तो क्या हो जाएगा! एक अंधी दौड़ मानव को न जाने क्या से क्या बना देती है' यह भौतिक प्राप्तियाँ मानव को अन्धा कर देती हैं। अपने ईश्वरीय स्वरूप से वंचित कर देती हैं। अपने खुदा से, ईश्वर से बहुत दूर ले जाती हैं और अन्ततः वह स्वयं से ही दूर हट जाता है। वृद्धावस्था में यह सुन्दर काया मानो मानव को चिढ़ाने लगती है। यह सुन्दर, सजीले नेत्र, यह देह, त्वचा और न जाने भिन्न–भिन्न इस देह के अंग मानो मानव का मज़ाक सा करने लगते हैं। कितना प्रेम करते हैं हम इस देह से ? कितना सजाते–सँवारते हैं इसको, कितना ध्यान करते हैं इसका, मानो यह देह और यह देह ही हमारे लिए हो और हम इस देह के लिए हों। जब इसकी निस्सारता का, जब इस देह के अस्तित्व का आभास होता है, इसके बदलते हुए स्वरूपों का दिग्दर्शन होता है, तब भी यह मानव जन्म–जन्मांतरों तक इस देह के मोह को नहीं छोड़ता बड़ा दुर्भाग्य है। लेकिन एक ऐसा सच्चिदानन्द स्वरूप है इसका, जो सब कुछ परिवर्तित होते हुए देखता है लेकिन स्वयं परिवर्तित नहीं होता। जो स्वयं में सत्य है, चेतन है, आनन्द है और इन तीनों का अविरल एवं अन्तिम संगम है, अकाट्य संगम है। ऐसा है यह विलक्षण स्वरूप, इसका अपना स्वरूप जिसकी मात्र एक झलक पाने के बाद कोई भी मानव झल्ला अथवा पागल हुए बिना नहीं रहता।

जीवन का एक ही लक्ष्य है, एक ही दृष्टिकोण है, एक ही विचार और एक ही दिशा जिसमें मानव की समस्त शक्तियों भौतिक, शारीरिक, मानसिक इत्यादि लगनी चाहिए और वो है अपने स्वरूप का, अपने इष्ट का, अपने सच्चिदानन्द परमात्मा का सामीप्य एवं दिग्दर्शन। उसके बाद जीवन और जीवन की विभिन्न प्राप्तियों और उनके भोग अपना महत्व सा खो देते हैं। वास्तव में यदि विचार किया जाए, तो यही जीवन का लक्ष्य है। फिर जीवन एक लीला हो जाती है। ऐसे महामानव भले ही बार–बार इस धरा पर आए, अवतरित हों, वे मात्र लीला करने एवं लीला देखने ही आते हैं। वे कभी भी इस संसार में नहीं उलझते, वे संसार के साथ खेलते हैं, संसार उनके साथ नहीं। इन्द्रियाँ उनकी चेरी होती हैं, उनकी सेविकाएं होती हैं। एक

अविरल मुदिता में एवं आनन्द में वे जीवन प्रारम्भ करते हैं, आनन्द में विचरते हैं और अन्ततः आनन्द में ही वे जीवनलीला समाप्त करते हैं। ऐसा होता है महामानवों का जीवन, यही सत्य है।

।। जय जय श्री राम।।